जीवन और साहित्य

संकलनकर्ता
उदयभानुसिंह एम. ए., पी-एच. डी.,
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

श्रीराम मेहरा एण्ड कम्पनी, आगरा

जीवन और साहित्य

सूचिका

भूमिका		१–३४
१—हिन्दी गद्य साहित्य का विकास		१
(क) नाटक		
(ख) कहानी		
(ग) उपन्यास		
(घ) आलोचना		
(ङ) निबंध		
(च) गद्य साहित्य में विविध अंग		
२—लेखकों की भाषा-शैली आदि का संक्षिप्त परिचय		१९
१. अजेय सत्याग्रही	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी	१
२. जीवन-गाथा	आ. महाबीरप्रसाद द्विवेदी	७
३. राष्ट्रोन्नति में जातीय गर्व की महत्ता	बाबू गुलाबराय	१४
४. मन की दृढ़ता	श्री बालकृष्ण भट्ट	२२
५. नागरिकता का मानदंड	डा. कंचनलता सब्बरवाल	३०
६. रामचरितमानस का महत्त्व	डा. श्यामसुन्दरदास	३८
७. गुरुदेव	श्री हरिभाऊ उपाध्याय	४५
८. मजदूरी और प्रेम	अध्यापक पूर्णसिंह	५६
९. जीवन और साहित्य	डा. संपूर्णानन्द	६६
१०. दीनबन्धु एण्ड्रूज	श्री बनारसीदास चतुर्वेदी	७१
११. समाजवाद या समाजधर्म	श्री किशोरीलाल मशरूवाला	८०
१२. साहित्य का मूल्य	श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी	८७
१३. दीनों पर प्रेम	श्री वियोगी हरि	१०३
१४. प्रेमचन्द्र	डा० नगेन्द्र	१०८
१५. श्रद्धा-भक्ति	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल	१२२
१६. लछमा	श्रीमती महादेवी वर्मा	१३०
१७. सर्वोदय	महात्मा गांधी	१४५

भूमिका

हिन्दी-गद्य-साहित्य का विकास

हिन्दी साहित्य का इतिहास चार भागों में विभक्त है—आदिकाल (आरंभ से सं. १४०० तक), मध्यकाल या भक्तिकाल (सं. १४००-१७००), उत्तर मध्यकाल या रीतिकाल (१७००-१९००) और आधुनिक काल या गद्य काल (१९००—)। सं. १९०० से गद्य काल मानने का यह अर्थ नहीं है कि उसके पहले हिन्दी में गद्य-साहित्य था ही नहीं। नामकरण का कारण गद्य की प्रधानता है। १९वीं शताब्दी से पूर्व पाये जाने वाले हिन्दी-गद्य के तीन रूप हैं—राजस्थानी-गद्य, ब्रजभाषा-गद्य और खड़ी बोली-गद्य।

कुछ विद्वान् राजस्थानी गद्य का आरंभ १०वीं शती ई. से ही मानते हैं। इसका रूप दानपत्रों, धार्मिक उपदेशों, टीकाओं, अनुवाद-ग्रंथों आदि में सुरक्षित है। १४वीं शती वि. के मध्य में लिखित राजस्थानी गद्य का निम्नांकित उदाहरण दृष्टव्य है—'पहिलउ त्रिकालु अतीत अनागत वर्त्तमान बहत्तरि तीर्थंकर सर्वपापक्षयेकर हउं नमस्करउं।'

ब्रजभाषा का प्राचीनतम रूप गोरख-पंथी योगियों के धार्मिक उपदेशों में विक्रम संवत् १४०० के लगभग मिलता है—"श्री गुरु परमानन्द तिनको दंडवत है। हैं कैसे परमानन्द, आनन्दरूप हैं सरीर जिन्हको, जिन्हके नित्य गाए तें सरीर चेतन्ति अरु आनन्दमय होतु है।" १७वीं शताब्दी वि. में लिखित 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' आदि में बोलचाल की ब्रजभाषा का रूप पाया जाता है। अठारहवीं और उन्नीसवीं शतियों में ब्रजभाषा गद्य में अनेक मौलिक एवं अनूदित ग्रंथों तथा टीकाओं की रचना हुई। सन् १८१५ में लिखित ब्रजभाषा गद्य का एक नमूना रामचन्द्रिका की टीका (जानकी प्रसाद) से नीचे उद्धृत किया गया है—

"राघव शर लाघव गति छत्रमुकुट यों हयो ।
हंस सबल अंसु सहित मानहुं उड़िकै गयो ।।

सबल कहें अनेक अनेक रंग मिश्रित हैं, अंसु कहें किरण जाके ऐसे जे सूर्य हैं तिन सहित मानों कालिंदागिरि श्रृंग तें हंस कहें हंस समूह उड़ि गयो है। यहां जाति विषय एक वचन है। हंसन के सदृश्य श्वेत-छत्र हैं औ सूर्य्यन के सदृश्य अनेक रंग नग-जटित मुकुट हैं।"

पंडित रामचन्द्र शुक्ल आदि विद्वानों ने खड़ी बोली गद्य का प्रारंभ अकबरी दरबार के कवि गंग से माना है। गंग की एक रचना है—चंद-छंद वरनन की महिमा। उसमें प्रयुक्त गद्य का रूप निम्नांकित उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा—'सिद्धि श्री १०८ श्री पातसाहिजी श्री दलपतिजी अकबर साहि जी आमखास में तखत ऊपर विराजमान हो रहे। और आम: खास भरने लगा है जिसमें तमाम उमराव आय-आय कुर्निश बजाय जुहार करके अपनी-अपनी बैठक पर बैठ जाया करें, अपनी-अपनी मिसल से। जिनकी बैठक नहीं सो रेसम के रस्से में रेसम की लूयें पकड़-पकड़ के खड़े ताजीम में रहे।'

आगे चलकर कुछ अनुवाद ग्रंथों नृसिंहतापनी उपनिषद् (१७१९ ई.), योगवासिष्ठ (१७४१ ई.) आदि में खड़ी बोली गद्य का अधिक विकसित रूप मिलता है। योगवासिष्ठ का अधोलिखित गद्यखंड तत्कालीन गद्य के स्वरूप का उदाहरण है—"हे राम जी! जो पुरुष अभिमानी नहीं है वह शरीर के इष्ट अनिष्ट में रागद्वेष नहीं करता क्योंकि उसकी शुद्ध वासना है। मलीन वासना जन्मों का कारण है। ऐसी वासना को छोड़कर जब तुम स्थित होगे तब वीतराग, भय, क्रोध से रहित होगे।"

आधुनिक हिन्दी गद्य के प्रवर्त्तन का श्रेय मुं. सदासुखलाल (सं. १८०३-१८८१), इंशाअल्लाखां, लल्लूलाल (सं. १८२०-१८८२) और सदल मिश्र को है। अंग्रेज शासकों को इसका श्रेय देना युक्तिसंगत नहीं है। भगवद्भक्त मुंशी सदासुखलाल और इंशाअल्ला खां की गद्य रचनाएं स्वान्त: सुखाय हुई थीं, अंग्रेजों की प्रेरणा से नहीं। कतिपय लेखों के अतिरिक्त उन्होंने विष्णुपुराण के कुछ प्रसंगों का गद्यानुवाद किया था जिसके कुछ अंश ही मिलते हैं। उनकी बोलचाल की भाषा में पूरबीपन और संस्कृति-निष्ठा है। अधो-

लिखित उदाहरण उनके गद्य का परिचायक है—"जो क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष में चांडाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरंत ब्राह्मण से चाण्डाल होता है। ...... जो बात सत्य होय उसे कहना चाहिए ..... होता है सो नारायण का नाम लेता है, परन्तु उसे ज्ञान तो नहीं है।"

इंशाअल्लाखां द्वारा लिखित 'उदयभान चरित या रानी केतकी की कहानी' (सं. १८५५ और १८६० के बीच) एक प्रसिद्ध पुस्तक है। उन्होंने अपनी ठेठ हिन्दी भाषा को अरबी, फारसी, तुर्की, ब्रज, अवधी और संस्कृत से मुक्त रखने की चेष्टा की। उक्त रचना की कुछ पंक्तियां नीचे उद्धृत की गयी हैं—"सिर झुका कर नाक रगड़ता हूं उस अपने बनाने वाले के सामने जिसने हम सबको बनाया और बात की बात में वह कर दिखाया कि जिसका भेद किसी ने न पाया। आतियां जातियां जो सांसें हैं उसके बिना ध्यान यह सब फांसे हैं।"

ईस्ट इंडिया कम्पनी के कर्मचारियों की शिक्षा के लिए कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई थी। उसमें हिन्दी-उर्दू के अध्यापक थे जान गिल क्राइस्ट जिनकी अध्यक्षता में लल्लूलाल (भाखा-मुंशी) और सदल मिश्र हिन्दुस्तानी के अध्यापक नियुक्त हुए। उपर्युक्त गिल क्राइस्ट साहब के आदेशानुसार लल्लूलाल ने भागवत् के दशम स्कन्ध की कथावस्तु को लेकर 'प्रेमसागर' लिखा। उन्होंने 'प्रेमसागर' के अतिरिक्त भी कई पुस्तकों की रचना की। उनकी भाषा ब्रज-मिश्रित खड़ी बोली है जिसमें अरबी, फारसी आदि विदेशी शब्दों के बहिष्कार की प्रवृत्ति स्पष्ट है। उदाहरणार्थ—

"जिस काल ऊषा बारह वर्ष की हुई तो उसके मुखचन्द्र की ज्योति देख पूर्णमासी का चन्द्रमा छबि-हीन हुआ, बालों की श्यामलता के आगे अमावस्या की अंधेरी फीकी पड़ने लगी। उसकी चोटी सटकाई लख नागिन अपनी केंचली छोड़ सटक गई। भौंह की बंकाई निरख धनुष धकधकाने लगा; आंखों की बड़ाई चंचलाई पेख मृग मीन खंजन खिसाय रहे।"

प्रेमसागर के रचनाकाल के आसपास ही सदल मिश्र ने अपना 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। नासिकेतोपाख्यान की भाषा खड़ी बोली होने पर भी ब्रजभाषा और पूरबी बोली से प्रभावित है —

"इस प्रकार नासिकेत मुनि यम की पुरी सहित नरक का वर्णन कर फिर जौन जौन कर्म किए से जो भोग होता है सो सब ऋषियों को सुनाने लगे कि गौ, ब्राह्मण, माता-पिता, मित्र, बालक, स्त्री, स्वामी, वृद्ध, गुरु इनका जो बध करते हैं वो झूठी साक्षी भरते, झूठ ही कर्म में दिन रात लगे रहते हैं, अपनी भार्या को त्याग दूसरे की स्त्री को ब्याहते, औरों की पीड़ा देख प्रसन्न होते हैं और जो अपने कर्म से हीन पाप में ही गड़े रहते हैं वो माता पिता की हित बात को नहीं सुनते, सबसे बैर रखते हैं, ऐसे जो पापी जन हैं सो महा डेरावने दक्षिण द्वार से जा नरकों में पड़ते हैं।"

हिन्दी के विकास और प्रचार का बहुत कुछ श्रेय धार्मिक आन्दोलनों को है। ईसाई मिशनरियों ने व्यवहारोपयोगी भाषा में अपने धर्मग्रन्थों के हिन्दी-अनुवाद कराकर जनता में वितरित कराया। शिक्षा संस्थाओं की स्थापना करके हिन्दी में भी पुस्तकें लिखवायीं। बंगाल में ब्रह्मसमाज के संस्थापक राममोहन राय ने भी अपने विचारों के प्रचार के लिए हिन्दी को भी माध्यम बनाया। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दी के द्वारा आर्य-समाज के सिद्धान्तों का विवेचन और प्रचार किया। हिन्दी गद्य के निर्माण में छापेखानों और समाचार-पत्रों का योगदान विशेष महत्त्वपूर्ण है।

यद्यपि खड़ी बोली गद्य का निश्चित आरंभ १९वीं शती ई. से ही हो गया था तथापि उसकी अखण्ड परम्परा सन् १८५७ ई. के स्वतन्त्रता के बाद से ही चली। तत्कालीन गद्य निर्माण के प्रसंग में काशी-निवासी राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' और आगरा-निवासी राजा लक्ष्मणसिंह के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

संस्कृत-प्रचुर भाषा लिखने में समर्थ होने पर भी सरकार को प्रसन्न करने, हिन्दी का गंवारूपन दूर करने और भाषा में एकसमता लाने के लिए राजा शिवप्रसाद ने उर्दू-मिश्रित हिन्दी का समर्थन किया। उनके विपरीत राजा लक्ष्मणसिंह (१८२६-९६ ई.) ने उर्दू-फारसी शब्दों से रहित और संस्कृत-निष्ठ किन्तु सुबोधगम्य व्यावहारिक हिन्दी का प्रयोग किया। उनका अनूदित शकुन्तला नाटक बड़ा लोकप्रिय हुआ।

प्रतिष्ठित हिन्दी-गद्य-साहित्य का उत्थान भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से से होता है। उसके तीन सोपान हैं—भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग और द्विवेदी-

उत्तरयुग। इन तीन युगों में हिन्दी-गद्य के विविध अंगों—निबन्ध, कहानी, उपन्यास, नाटक और आलोचना आदि—का स्वतंत्र रूप से विकास हुआ है। अतएव उनका अलग-अलग निरूपण अधिक समीचीन है।

नाटक

हिन्दी में नाटक लिखने की परम्परा आदिकाल से ही चली आ रही थी। आदिकाल और मध्यकाल में लिखे गये नाटकों में प्राय: पद्य का ही प्रयोग हुआ था। कला की दृष्टि से उन्हें नाटक कहना भी उचित नहीं है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता गोपालचन्द्र (गिरिधरदास) ने पहला वास्तविक नाटक 'नहुष' (१८५९ ई. में) लिखा।

हिन्दी नाटकों का उदय भी भारतेन्दु-युग में गद्य के विकास के साथ हुआ। भारतेन्दु ने हिन्दी में दृश्यकाव्य के अभाव की पूर्ति का प्रशंसनीय प्रयास किया। उन्होंने 'विद्यासुन्दर' आदि सात अनूदित और 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' आदि आठ मौलिक नाटक लिखे। इन नाटकों में देश, जाति, समाज, संस्कृति, धर्म, भाषा और साहित्य की तत्कालीन अवस्था के यथार्थ दृश्य उपस्थित किये गये। उन्होंने अपने नाटकों में नाट्यकला के भारतीय और पाश्चात्य आदर्शों का समन्वय किया। नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का विवेचन करने के लिए 'नाटक' पुस्तक लिखी। नाटकों के अभिनय का भी आयोजन किया। इस प्रकार नाटक के सिद्धान्त, रचना और प्रयोग की सभी दृष्टियों से उनकी देन स्मरणीय है।

उन्नीसवीं शती ईसवी के अन्तिम चरण में भारतेन्दु की देखादेखी नाटककारों की श्रेणी-सी बंध गई। श्रीनिवास दास, प्रताप नारायण मिश्र, राधाकृष्ण दास, बालकृष्ण भट्ट, राधाचरण गोस्वामी, अंबिका दत्त व्यास, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' आदि ने विविध-विषयक अनेक प्रकार के नाटक लिखे। कला की दृष्टि से श्रेष्ठ न होते हुए भी इन नाटकों का ऐतिहासिक महत्त्व है। उनमें प्राचीन और नवीन शैलियों का सम्मिश्रिण है। कुछ में बोलचाल की भाषा का प्रयोग नाटकीय कथोपकथन के सर्वथा अनुकूल है। भारतेन्दु-मंडल के नाटककारों के प्रयत्न से स्थापित काशी, प्रयाग, कानपुर आदि नगरों की नाटक-मंडलियों ने हिन्दी-नाट्य-कला को विकसित किया।

भारतेन्दु और श्रीनिवास दास के उपरान्त हिन्दी के नाटक-संसार में अंधेरा छा गया। एक तो नाटककारों में योग्यता और तन्मयता की कमी थी और दूसरे पारसी नाटक कम्पनियों का आकर्षण बड़ा प्रबल था। हिन्दी में अच्छे नाटकों की रचना नहीं हो सकी।

भारतेन्दु के बाद (१८८५ ई.) से लेकर जयशंकर प्रसाद के आगमन तक हिन्दी के अनेक महान् साहित्यकारों ने नाटक-रचना का प्रयास किया किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। अयोध्यासिंह उपाध्याय, मिश्रबन्धु, विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, प्रेमचन्द, बेचन शर्मा 'उग्र' आदि ने अपनी शक्ति की परीक्षा करके नाटक लिखना छोड़ दिया।

द्विवेदी-युग में साहित्यिक और असाहित्यिक अनेक प्रकार के नाटक लिखे गए। नारायण प्रसाद बेताब, राधेश्याम कथावाचक आदि के 'महाभारत', 'वीर अभिमन्यु' आदि नाटकों पर तत्कालीन थियेटरों का प्रभाव है। उनमें कृत्रिम रोमांचकारी और चटकीले दृश्यों की प्रधानता है। पौराणिक और धार्मिक नाटकों में भी बाजारू कथोपकथन है। उनके द्वारा प्रयुक्त अलंकार भी भद्दे हैं। भाषा त्रुटियों से भरी हुई है। अभिनय के योग्य होने पर भी भाव और भाषा की दृष्टि से इन नाटकों का स्थान ऊंचा नहीं है।

उस युग के नाटकों की दूसरी श्रेणी उन नाटकों की है जो अभिनय की दृष्टि से पारसी रंगमंच से प्रभावित हैं और उनका साहित्यिक मूल्य भी है। बदरीनाथ भट्ट के 'दुर्गावती', 'चन्द्रावती' आदि इसी प्रकार के नाटक हैं। इन नाटकों के कथोपकथन, दृश्यविधान आदि थियेटरों की ही भांति आकर्षक हैं। भाषा, भाव, चरित्रचित्रण आदि में साहित्यिक रुचि का भी ध्यान रखा गया है।

तीसरी श्रेणी उत्तम साहित्यिक नाटकों की है। माखनलाल चतुर्वेदी के 'कृष्णार्जुन युद्ध', गोविन्दवल्लभ पंत के 'वरमाला' और प्रसाद के 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'विशाख', 'अजातशत्रु' आदि में परिष्कृत रुचि, शुद्ध साहित्यिक भाषा, काव्यमयी भावव्यंजना, देश-काल के अनुसार चरित्र-चित्रण और कथोपकथन, उपयुक्त नाटकीय विधान, रसपरिपाक आदि की उचित अभिव्यक्ति है।

प्रसाद आदि ने एकांकी नाटक भी लिखे किन्तु उनमें एकांकी-कला के

दर्शन नहीं होते। जी. पी. श्रीवास्तव, बदरीनाथ भट्ट, बेचन शर्मा 'उग्र' आदि ने प्रहसनों की रचना की जिनमें सामाजिक बुराइयों के हास्यपूर्ण चित्र अंकित हुए। मैथिलीशरण गुप्त ('अनघ'), जयशंकर प्रसाद ('करुणालय'), सियारामशरण गुप्त ('कृष्णा') आदि ने पद्यरूपक भी लिखे। इस क्षेत्र में उन्हें आंशिक सफलता मिली।

द्विवेदी-उत्तर-युग में नाटक-साहित्य भी विशेष सम्पन्न हुआ। पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, दार्शनिक आदि विषयों पर एकांकी और और अनेकांकी नाटक लिखे गये। हिन्दी नाटककारों में जयशंकर प्रसाद का स्थान सबसे ऊंचा है। उनके 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त', 'अजातशत्रु', 'ध्रुवस्वामिनी' आदि ऐतिहासिक नाटक हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं। उनके नाटकों में भारतीय सरसता के साथ ही पश्चिमी नाटकों का व्यक्ति-वैचित्र्य भी है। परंपरा और प्रगति का समन्वय है। संस्कृतबहुल परिष्कृत भाषा है। वातावरण के अनुकूल चरित्रचित्रण है। गीत कवित्वपूर्ण हैं। कहीं-कहीं अनावश्यक विस्तार के कारण शिथिलता आ गयी है। अभिनय की दृष्टि से लम्बे नाटकों और गीतों को संक्षिप्त करना आवश्यक हो जाता है।

ऐतिहासिक नाटक-लेखकों में हरिकृष्ण प्रेमी के 'रक्षाबन्धन', 'शिवा-साधना' आदि नाटक विशेष प्रसिद्ध हैं। प्रसाद ने अपने नाटकों की कथावस्तु प्राचीन भारतीय इतिहास से ली और हरिकृष्ण प्रेमी ने मध्यकालीन इतिहास से। प्रेमी के नाटक साहित्यिक और अभिनय की दृष्टि से काफी सफल हैं। गोविंदवल्लभ पंत के पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक नाटकों की उत्कृष्टता सराहनीय है। उनमें अभिनेयता, संक्षिप्तता, सरसता, कथोप-कथन की सुन्दरता आदि सभी कुछ है। सेठ गोविन्द दास ने विभिन्न विषयों पर कुल मिलाकर लगभग नब्बे नाटक लिखे हैं। उनके नाटकों में शैली की भी अनेकरूपता है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र और वृन्दावनलाल वर्मा ने ऐतिहासिक नाटक भी लिखे हैं किन्तु उनका अधिक गौरव सामाजिक नाटकों के कारण है। समस्या-नाटक-लेखकों में लक्ष्मीनारायण मिश्र अद्वितीय हैं। उनके 'राक्षस का मंदिर', 'मुक्ति का रहस्य', 'सिन्दूर की होली' आदि विख्यात समस्या-

नाटक हैं। वे यथार्थवादी हैं। उनमें समाज और नाटकीय रुढ़ियों के प्रति विद्रोह है।

आज अनेक नाटककार हिन्दी-नाटक-साहित्य की श्रीवृद्धि कर रहे हैं। उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', जगदीशचन्द्र माथुर आदि के नाम भुलाये नहीं जा सकते। जगदीशचन्द्र माथुर के 'कोणार्क' नाटक की बड़ी ही ख्याति है। वह हिन्दी-नाटक के विकास में एक निश्चित सोपान है।

एकांकी-लेखकों में सेठ गोविन्ददास, डा. रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', सद्गुरुशरण अवस्थी का योगदान गौरव का विषय है। पद्यरूपक के क्षेत्र में उदयशंकर भट्ट के 'विश्वामित्र', 'मत्स्यगन्धा' और 'राधा' उच्चकोटि की कृतियां हैं। अब सिनेमा और रेडियो के नाटक भी हिन्दी-गद्य-साहित्य और भाषा के विकास में पर्याप्त सहायक हो रहे हैं।

कहानी

आधुनिक कहानी का आरम्भ और विकास गद्य के साथ हुआ है। इसीलिए बहुत से विद्वान् योरपीय साहित्य को ही उसका स्रोत मानते हैं। अधिक तर्कसंगत मत यह है कि हिन्दी-कहानी का विकास भारतीय परम्परा में ही हुआ। कालानुसार उसमें पाश्चात्य कहानी-कला की विशेषताएं भी समाहित हो गयी हैं। इंशाअल्लाखां की 'रानी केतकी की कहानी' (१८००-३ ई.) को अनेक विद्वानों ने हिन्दी की प्रथम कहानी माना है। रानी केतकी की कहानी और नासिकेतोपाख्यान (१८३९ ई. सदल मिश्र) नाम और शैली दोनों दृष्टियों से भारतीय कथाप्रवाह के अन्तर्गत हैं। इन कहानियों में अस्वाभाविक घटनाओं की बहुलता है। भाषा प्रौढ़ नहीं है। शिल्प विधान में कहानी-कला का अभाव है। इतना होते हुए भी उसमें आधुनिक कहानी के बीज विद्यमान हैं।

भारतेन्दु युग में कहानी-साहित्य की विशेष उन्नति नहीं हुई। 'कलिराज की सभा', 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न', 'राजा भोज का सपना', 'एक कहानी कुछ आपबीती कुछ जग बीती' आदि रचनाएं भारतीय साहित्य की कल्पना-प्रधान शैली में लिखी गयी हैं। इसमें कहानी की शिल्पकला की अपेक्षा निबन्ध की स्वच्छन्दता से ही अधिक काम लिया गया है।

वास्तव में द्विवेदी-युग का प्रथम चरण आधुनिक हिन्दी-कहानी का शैशवकाल है। इस काल में कहानी के उपर्युक्त अविकसित रूप का विकास हुआ। सन् १९०० ई. से प्रकाशित 'सरस्वती' में अनूदित एवं मौलिक कहानियों का नियमित प्रकाशन आरम्भ हुआ। कला की दृष्टि से 'इन्दुमती' (१९०२ ई.), 'ग्यारह वर्ष का समय' (१९३९), 'दुलाई वाली' (१९०७ ई.) आदि हिन्दी की आरंभिक कहानियां हैं। इनमें छोटा-सा कथानक है, यथार्थवादी चित्रण है और हृदय को प्रभावित करने वाली संवेदना है।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशाब्द तक हिन्दी-कहानी के शरीर और आत्मा में कोई क्रान्तिकारी कलात्मक परिवर्तन नहीं हुआ था। दूसरे दशाब्द में लिखित कहानियां अपने रचना-संगठन, मार्मिकता, भावव्यंजना आदि के कारण विशेष आकर्षक सिद्ध हुईं। जयशंकर प्रसाद की पहली कहानी 'ग्राम' १९११ ई. में 'इन्दु' में प्रकाशित हुई। इस प्रकार कल्पना और भावुकता से पूर्ण छायात्मक कहानी का प्रारंभ हुआ।

१९१५-१६ ई. तक हिन्दी के प्रसिद्ध कहानीकारों का उदय हुआ, जिसमें विशेष उल्लेखनीय हैं चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, वृन्दावनलाल वर्मा, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', राजा राधिका प्रसाद सिंह, चण्डी प्रसाद हृदपेश, और प्रेमचन्द। इनकी कहानियों में कहानी कला की सभी विशेषताएं—आकर्षक शीर्षक, सुगठित वस्तु-विन्यास, उपयुक्त कथोपकथन, अनुरंजनकारी कुतूहल, स्वाभाविक चरित्रचित्रण, मार्मिक भावव्यंजना, उद्देश्यपूर्ण संवेदना आदि—एक साथ हैं। 'कानों में कंगना' (सं. १९७०—राजा राधिकारमण) 'उसने कहा था' (चन्द्रधर शर्मा गुलेरी) और 'पंच परमेश्वर' (१९१६ ई. प्रेमचन्द) हिन्दी साहित्य की सर्वाधिक लोकप्रिय कहानियों में गिनी जाती हैं।

हिन्दी के कहानी-संसार में प्रेमचन्द का आगमन एक ऐतिहासिक घटना है। उनकी कहानियों में समाजगत विषयों का उदार और यथार्थ चित्रांकन है। पात्रों के चरित्र का मर्मस्पर्शी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। प्रौढ़ अनुभव, दृढ़ आत्म-विश्वास, स्वाभाविक कथाप्रवाह और जीवन की विवेकपूर्ण हृदयहारी व्याख्या है। द्विवेदी-युग के अन्य कहानीकारों में ज्वालादत्त शर्मा, गोपालराम गहमरी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, चतुरसेन

शास्त्री और सुदर्शन की देन महत्त्वपूर्ण है । द्विवेदी-पूर्व युगों की कहानियों में कल्पना, चमत्कार और वर्णन की प्रधानता थी । द्विवेदी युग आदर्श और सुधार का युग था । प्रेमचन्द आदि की कहानियों में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की प्रतिष्ठा हुई है ।

द्विवेदी-उत्तर-युग में हिन्दी का कहानी-साहित्य और भी सम्पन्न हुआ । प्रसाद की अधिकांश कहानियां इसी युग में लिखी गयीं । उनमें आलंकारिकता, सांस्कृतिक भावना और कवि कल्पना की विशेषता है । रायकृष्णदास की कहानियों में भी घटना, संवाद, कल्पना, नाटकीयता आदि का सौंदर्य है । ऐतिहासिक कहानी-रचना के क्षेत्र में वृन्दावनलाल वर्मा प्रमुख हैं । जैनेन्द्रकुमार की कहानियों में स्थलसंकलन का निर्वाह प्रभावान्वित, मार्मिक वातावरण का चित्र है । 'अज्ञेय' की कहानियों में मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का विश्लेषण है । यशपाल में प्रगतिवादी विचारधारा की अभिव्यंजना है । सुमित्रानन्दन पंत की 'पांच कहानियां' नाटकीय भाव-चित्रों की कथात्मक अभिव्यक्ति है । बेचन शर्मा 'उग्र' की कहानियों में समाज की तीखी आलोचना है । राहुलसांकृत्यायन और भगवतशरण उपाध्याय ने मानवता के क्रमिक विकास का चित्र उपस्थित किया है । जी. पी. श्रीवास्तव, अन्नपूर्णानन्द, कान्तानाथ पाण्डेय 'चोंच' आदि ने हास्यविनोदपूर्ण कहानियों की रचना की । भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा, मोहनसिंह सेंगर आदि का योगदान स्मरणीय है । प्रसिद्ध कहानी-लेखिकाओं में सुभद्रा कुमारी चौहान, शिवरानी देवी, कमला देवी चौधरी, उषा देवी मित्रा, होमवती देवी आदि उल्लेखनीय हैं । इनकी कहानियों में भारतीय परिवार की समस्याओं की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है ।

पौराणिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि सभी विषयों पर इतिवृत्तात्मक, भावात्मक और विश्लेषणात्मक कहानियां लिखी गयीं । उनकी रचना वर्णन, आत्मकथा, पत्र, दैनन्दिनी और संलाप सभी रूपों में हुई और हो रही है । यह अधिकारपूर्वक कहा जा सकता है कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य के विभिन्न अंगों में जितना विकास कहानी का हुआ है उतना उपन्यास, नाटक आदि का नहीं ।

उपन्यास

हिन्दी में उपन्यास का विकास भी कहानी की भांति गद्य-साहित्य के साथ हुआ है। भारतेन्दु-पूर्व युग में लिखित 'रानी केतकी की कहानी' में उपन्यास का आकार-प्रकार नहीं है। उपन्यास-साहित्य का प्रथम उत्थान भारतेन्दु युग में हुआ। श्रीनिवास दास का 'परीक्षा गुरु' हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास माना जाता है। इसमें उपदेश की अधिकता और कला की कमी हैं। जगमोहनसिंह के 'श्यामास्वप्न' में रमणीय कल्पना के चित्र हैं। अम्बिकादत्त व्यास का 'आश्चर्य वृत्तांत' भानुमती का पिटारा है। इन सबमें उपन्यास का शिल्प-विधान नहीं है। राधाकृष्णदास (निस्सहाय हिन्दू) और बालकृष्ण भट्ट के (नूतन ब्रह्मचारी) आदि में कला की अपेक्षा उपदेश की ही प्रधानता है।

हिन्दी-साहित्य में उपन्यासों की कमी देख कर भारतेन्दु-युग के लेखकों ने अविलम्ब अभाव-पूर्ति के लिए अनुवादों की शरण ली। बंगला साहित्य उपन्यासों से सम्पन्न था। अतएव बँगला उपन्यासों के अनुवाद ही अधिक हुए। प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, गदाधरसिंह, राधाकृष्णदास, रामकृष्ण वर्मा, कार्तिकप्रसाद खत्री, गोपाल राम गहमरी, रूपनारायण पाण्डेय, रामचन्द्र वर्मा आदि अनुवादकों ने बँगला, मराठी, गुजराती और अंग्रेजी आदि भाषाओं से अनूदित उपन्यासों का ढेर लगा दिया। इन अनुवादों से दो लाभ हुए—एक तो भाषा का परिमार्जन और दूसरे हिन्दी के उदीयमान उपन्यास-लेखकों के सामने ऊँचे आदर्श की प्रतिष्ठा।

हिन्दी के सर्वप्रथम लोकप्रिय मौलिक उपन्यासकार देवकीनन्दन खत्री हैं। बोलचाल की भाषा में लिखे गये 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकांता सन्तति' का जन-साधारण में बड़ा प्रचार हुआ। बहुतों ने चन्द्रकांता पढ़ने के लिए ही हिन्दी सीखी। किशोरीलाल गोस्वामी ने एक दर्जन से अधिक उपन्यास लिखे और धारावाहिक रूप में 'उपन्यास' पत्र निकाला। उनकी भाषा कहीं संस्कृत-प्रधान, कहीं फारसी-प्रधान और कहीं मिश्रित है। ये उपन्यास मुख्यतः नायक-नायिकाओं के उपन्यास हैं। उनमें जीवन के विविधि पक्षों की अभिव्यंजना नहीं है। उपन्यास कला का अभाव है। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के

'ठेठ हिन्दी का ठाठ' आदि उपन्यासों में उपन्यास कौशल न होते हुए भी भाषा का वैचित्र्य और लज्जाराम मेहता के उपन्यासों में हिन्दू धर्म और समाज का चित्रण है।

हिन्दी-उपन्यासों की सर्वतोमुखी प्रगति सं० १९७५ के पश्चात् हुई है। राधिकारमण प्रसाद सिंह, प्रेमचंद, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', जयशंकर प्रसाद, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, सुदर्शन, जैनेन्द्रकुमार, बेचन शर्मा 'उग्र', यशपाल, निराला आदि ने देश की सामाजिक और राष्ट्रीय स्थिति का निरूपण किया। किसान और जमींदार, शिक्षित और अशिक्षित, ग्रामीण और नगर निवासी, मजदूर और मिल मालिक, विद्यार्थी और अध्यापक आदि का चरित्र-चित्रण हुआ। ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना अधिक नहीं हुई। इस क्षेत्र में वृन्दावनलाल वर्मा का स्थान अन्यतम है। उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'झांसी की रानी' और 'मृगनयनी' का हिन्दी साहित्य में बड़ा मान है। भगवती-चरण वर्मा ने अपने चित्रलेखा उपन्यास में दार्शनिक चिन्तन की सामग्री प्रस्तुत की। जैनेन्द्रकुमार, इलाचंद्र जोशी और 'अज्ञेय' ने मनोविश्लेषण-प्रधान उपन्यास लिखे।

विगत पैंतीस-चालीस वर्षों में उपन्यास-कला का सम्यक् विकास हुआ। लेखकों ने व्यर्थ घटनाचक्र या वस्तु-विस्तार का त्याग करके अपेक्षित कथा-वस्तु की योजना की। समाज की विभिन्न दशाओं और संस्कारों की छानबीन की गयी। जीवन के विविध रूपों का विवेचन किया गया। लम्बी-चौड़ी भूमिकाओं का वहिष्कार किया गया। उपन्यास को अनावश्यक कवित्त्व से मुक्त करने की चेष्टा की गई। चुभते कथोपकथन वर्णन या विश्लेषण के द्वारा भावों और विचारों की मार्मिक अभिव्यंजना की गयी। बाह्यवर्ण की अपेक्षा पात्रों की अन्त:प्रकृति का व्यापक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया।

आलोचना

हिन्दी-साहित्य में आलोचना का वास्तविक आरम्भ बालकृष्ण भट्ट और बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने किया। उन्नीसवीं शती ईसवी के अन्तिम १५ वर्षों में आलोचना विषयक अनेक रचनाएँ प्रकाशित हुईं। जिनमें गंगाप्रसाद अग्निहोत्री की समालोचना नामक पुस्तक, जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

का 'पद्यात्मक समालोचनादर्श' आदि प्रमुख हैं। इनमें आधुनिक आलोचना की विशेषताएँ न होने पर भी अध्ययन की गंभीरता है। हिन्दी आलोचना के प्रारम्भिक युग ने विशेष महत्त्व का कार्य किया। इस काल की अधिकांश आलो-चनाएँ 'आनंद कादंबिनी' 'हिन्दी प्रदीप', 'नागरी प्रचारणी पत्रिका' आदि में प्रकाशित हुईं।

द्विवेदी-युग में आलोचना का स्तर बहुत ऊँचा उठा। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने विभिन्न पद्धतियों पर व्यापक आलोचनाएँ लिखीं। संस्कृत के आचार्यों की पद्धति पर काव्यशास्त्रीय विषयों का, लेखों और पुस्तकों के रूप में, विवे-चन प्रस्तुत किया गया। आचार्य-पद्धति पर सिद्धांत-समीक्षा लिखने वाले महान् आलोचक रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, गुलाबराय आदि हुए। व्यावहारिक आलोचना के क्षेत्र में रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुन्दरदास, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, मिश्रबन्धु, कृष्णबिहारी मिश्र आदि ने स्तुत्य कार्य किया। जीवनीमूलक, तुलनात्मक, व्याख्यात्मक, इतिहासमूलक, समाजमूलक आदि सभी दृष्टियों से हिन्दी तथा हिन्दीतर साहित्य की निर्णयात्मक, भावात्मक और चिन्तनात्मक आलोचनाएँ लिखी गयीं।

आलोचना-संबंधी विभिन्न वाद-विवादों के दलदल में कभी-कभी रचना की अपेक्षा रचनाकार की आलोचना की गयी। कमियों के होते हुए भी द्विवेदी-युग की आलोचना, जो लेखों, भूमिकाओं या पुस्तकों के रूप में प्रस्तुत हुई, हिन्दी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। पं० रामचंद्र शुक्ल की तुलसी, सूर, जायसी आदि पर लिखी गई समीक्षायें आज भी अप्रतिम हैं।

द्विवेदी-युग के बाद हिन्दी-आलोचना की भी बहुमुखी प्रगति हुई। भारतीय और पाश्चात्य सिद्धांतों से प्रभावित आलोचकों ने साहित्य के विभिन्न अंगों पर गंभीर आलोचनाएँ लिखी हैं। आचार्य पद्धति पर रामचंद्र शुक्ल की 'रस-मीमांसा', श्यामसुन्दरदास के 'साहित्यालोचन' और 'रूपक-रहस्य,' बाबू गुलाबराय के 'काव्य के रूप' तथा 'सिद्धांत और अध्ययन' आदि ग्रंथ लिखे गए। टीकाओं के रूप में 'बिहारी-रत्नाकर' आदि समीक्षात्मक व्याख्यायें लिखी गईं। विभिन्न कवियों पर रामचंद्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे बाजपेयी आदि ने आलोचना-ग्रंथ लिखे। हिन्दी साहित्य के विकास का अध्ययन प्रस्तुत करने की दृष्टि से अनेक साहित्यिक इतिहास लिखे गए,

जिनमें रामचंद्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', रामकुमार वर्मा का 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', कृष्णशंकर शुक्ल का 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास', हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'हिन्दी साहित्य' और 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' आदि मुख्य हैं। एक-एक पुस्तक और पुस्तकों के एक-एक खंड पर भी स्वतंत्र रूप से समालोचनात्मक पुस्तकें लिखी गईं जैसे 'साकेत—एक अध्ययन', 'कामायनी-अनुशीलन', 'साकेत के नवम् सर्ग का काव्य-वैभव' आदि।

विभिन्न विश्वविद्यालयों में एम. ए. और डाक्टरेट की उपाधियों के लिए प्रस्तुत किये गए प्रबन्धों ने हिन्दी-आलोचना-साहित्य में युगान्तर उपस्थित किया। अब तक डाक्टरेट की विभिन्न उपाधियों के लिए लगभग सवा सौ प्रबन्ध स्वीकृत हो चुके हैं। इन प्रबन्धों में वर्गीकरण और विश्लेषण की प्रधानता है। इनके द्वारा हिन्दी-साहित्य का व्यापक और सूक्ष्म विवेचन हुआ है। जिनमें से लगभग पांच दर्जन प्रबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं। आज हिन्दी-साहित्य के आलोचना-जगत में डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० दीनदयालु गुप्त, डा० नगेन्द्र, पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पं० नन्ददुलारे बाजपेयी, डा० भगीरथ मिश्र, डा० जगन्नाथ शर्मा, डा० रामकुमार वर्मा आदि प्रसिद्ध प्रतिष्ठित विवेचक हैं। इनके अतिरिक्त भी सैकड़ों आलोचक अपनी आलोचनात्मक कृतियों द्वारा हिन्दी-गद्य-साहित्य को संपन्न बना रहे हैं।

निबन्ध

संस्कृत का शब्द 'निबन्ध' आधुनिक हिन्दी-साहित्य में अंग्रेजी 'एस्से' शब्द का पर्यायवाची है। 'निबन्ध' और 'एस्से' दोनों ही शब्द अपने प्राचीन अर्थ को छोड़ कर अपने नवीन अर्थ में व्यवहृत हो रहे हैं। आधुनिक निबन्ध के चार प्रधान तत्त्व माने जाते हैं—प्रतिपाद्य विषय की एकतानता, लेखक के व्यक्तित्व की छाप, कलात्मकता अर्थात् रमणीय-प्रतिपादन-शैली और अनौपचारिकता अथवा आत्मीयता का गुण। इस प्रकार निबन्ध वह गद्य-रचना है, जिसका आकार सीमित होता है और प्रतिपादनशैली व्यक्तित्व, स्वच्छंदता, सौष्ठव, सजीवता, संगति एवं संबद्धता से विशिष्ट होती है।

निबन्ध के मुख्यतया तीन प्रकार हैं—वर्णनात्मक, भावात्मक और

विचारात्मक। विवराणत्मक निबन्ध वर्णनात्मक के ही अन्तर्गत है। यह वर्गीकरण गणित का सा नहीं है। एक ही निबन्ध में दो या तीनों प्रकारों का समन्वय भी हो सकता है। वर्णनात्मक निबन्धों में किसी स्थान, यात्रा आदि का वस्तु-परक निरूपण होता है। भावात्मक निबन्धों में लेखक की सरस अनुभूति, उसके हृदय की भावधारा की प्रधानता रहती है। विचारात्मक निबन्धों की विशेषता है बुद्धितत्त्व की प्रधानता और विषय का सूक्ष्म विश्लेषण।

हिन्दी-निबन्धों का प्रारम्भ भारतेन्दु युग से हुआ। सामयिक साहित्य की उन्नति, अंग्रेजी आदि भाषाओं का अध्ययन और तत्कालीन राजनैतिक, राष्ट्रीय, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक एवं साहित्यिक आन्दोलनों ने हिन्दी-लेखकों को निबन्ध-रचना की ओर प्रेरित किया। भारतेन्दु-युग का निबन्ध-साहित्य नवजीवन की विशेषता, लेखकों के फक्कड़पन और सजीवता से ओत-प्रोत है। उसमें जीवन के प्रति अनुराग है। समाज के आदर्शों और आकांक्षाओं के चित्रण के साथ ही उसकी सड़ी-गली रूढ़ियों पर तीखा व्यंग्य भी है। प्रायः पत्रिकाओं में ही लिखे गये उन निबन्धों की भाषा चलती हुई, मुहावरेदार और ओजोमयी है। उस युग के प्रसिद्ध निबन्धकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, ठाकुर जगमोहनसिंह आदि हैं। विषय और भाषा-शैली दोनों ही दृष्टियों से हिन्दी निबन्ध साहित्य के निर्माण में उपर्युक्त लेखकों का योगदान महत्त्वपूर्ण है। उनके निबन्धों में व्यक्तित्व की छाप है, शैली की रमणीयता है, स्वच्छंद प्रवाह है, सजीवता और सौष्ठव है किन्तु निबन्ध की निबन्धता नहीं है, विषय का सुसंबद्ध एकतान प्रतिपादन नहीं है। निबन्ध लिखते समय दायें-बायें जो कुछ भी मिला है, उस पर कुछ-न-कुछ कह दिया गया है। हिन्दी गद्य के शैशवकाल में लिखे जाने के कारण इन निबन्धों की भाषा भी प्रौढ़ नहीं है।

निबन्धों की उपर्युक्त निबन्धता, विचारात्मकता और प्रौढ़ता की न्यूनताओं की पूर्ति, द्विवेदी-युग में हुई। द्विवेदी-युग ने भाषा का परिष्कार और संस्कार करके हिन्दी-गद्य के नियमित और व्यवस्थित रूप की प्रतिष्ठा की। इस निर्माण का श्रेय पं० महावीर प्रसाद द्विवदी और उनके द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' को है।

द्विवेदी-युग में वर्णनात्मक, भावात्मक और चिन्तनात्मक सभी वर्गों के निबन्धों की रचना हुई। ये निबन्ध प्रायः पत्रिकाओं के लिए लिखित लेखों, ग्रंथों की भूमिकाओं और भाषणों के रूप में लिखे गये। वर्णनात्मक निबन्धों में निबन्धकार ने तटस्थ भाव से अपने या दूसरे के शब्दों में अभीष्ट विषय का वर्णन किया। महावीर प्रसाद द्विवेदी, काशीप्रसाद जायसवाल, स्वामी सत्य-देव, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी आदि ने इस प्रकार के बहुसंख्यक निबन्धों की रचना की। भावात्मक निबन्धों में सहृदय निबन्धकार के हृदयोद्गारों का प्रभावशाली निरूपण हुआ। इस क्षेत्र में अध्यापक पूर्णसिंह का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। चिन्तनात्मक निबंधों में पाठकों के बौद्धिक विकास की यथेष्ट सामग्री प्रस्तुत की गयी। निबन्धों के इस वर्ग में गौरीशंकर हीराचंद ओझा, रामचंद्र शुक्ल, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, श्यामसुन्दरदास, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, बाबू गुलाबराय आदि का योगदान स्थायी महत्त्व रखता है। द्विवेदी-युग के निबन्धकारों ने निबन्ध-कला से मण्डित उच्च कोटि के निबन्धों की रचना करके हिन्दी के निबन्ध-साहित्य को प्रौढ़ एवं संपन्न किया।

द्विवेदी-उत्तर युग में हिन्दी के निबन्ध-साहित्य और उसकी विविध शैलियों का विषय-विस्तार हुआ है। हिन्दी-साहित्य के महत्तम निबन्धकार रामचन्द्र शुक्ल के अधिकांश निबन्ध द्विवेदी-युग में ही लिखे गए थे। उन्होंने अपने विचारात्मक निबन्धों की परम्परा को आगे बढ़ाया। वे प्रतिभासंपन्न लेखक थे। उनके निबन्धों में अध्ययन, उद्भावना और व्यक्तित्व की छाप है। उनकी भाषा में प्रौढ़ता एवं अर्थ-गौरव है। श्यामसुन्दरदास, गुलाबराय और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने भी द्विवेदी-उत्तर युग में उच्च कोटि के निबन्धों का सृजन किया।

आधुनिक युग के प्रतिष्ठित निबन्धकारों की सूची बहुत लम्बी है। गुलाब-राय और सियारामशरण गुप्त के निबन्ध मॉन्टेन के निबन्धों के समकक्ष हैं। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के निबन्धों की शैली चिन्तन-प्रधान होने पर भी भावपूर्ण और रोचक है। जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पंत, महादेवी वर्मा, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, जैनेन्द्रकुमार और डा० नगेन्द्र के विचारा-त्मक निबन्धों में चिन्तन की गंभीरता है। राहुल सांस्कृत्यायन, शांतिप्रिय द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० रामविलास शर्मा, डा० भगीरथ मिश्र,

विजयेन्द्र स्नातक, डा० सत्येन्द्र, रामचन्द्र शुक्ल, शिलीमुख, शिवदानसिंह चौहान, प्रभाकर माचवे, आदि ने अपने विचार-प्रधान प्रौढ़ निबन्धों द्वारा हिन्दी-साहित्य को संपन्न किया।

भावात्मक निबन्धों की ही एक कोटि गद्य काव्यों की है। रायकृष्णदास और वियोगी हरि के निबन्ध रहस्यात्मक शैली पर लिखे गये हैं। अतीत के ऐतिहासिक स्मृति के आधार पर लिखित महाराजकुमार रघुबीरसिंह के भाव-प्रधान निबन्धों की विक्षेप शैली हिन्दी साहित्य में विशिष्ट स्थान रखती है। दिनेशनन्दिनी डालमिया और चतुरसेन शास्त्री के भावात्मक निबन्ध भी सुन्दर हैं। चरितात्मक और संस्करणात्म-निबन्धों की हिन्दी-साहित्य में कमी है। महादेवी वर्मा द्वारा लिखित 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' आख्यायिका, निबन्ध और काव्य की त्रिवेदी हैं। संस्मरण-लेखकों में पं० बनारसी प्रसाद चतुर्वेदी अन्यतम हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि हिन्दी में विभिन्न शैलियों में निबन्ध विषयक निबन्धों की रचना हुई है। बहुसंख्यक निबन्धकारों ने अपनी कृतियों से हिन्दी-साहित्य को गौरवान्वित किया है। गद्य को कवियों की कसौटी कहा गया है और निबन्ध को गद्य की कसौटी। हमारे साहित्य का यह महत्त्व-पूर्ण अंग कविता, कहानी या उपन्यास की अपेक्षा कम विकसित हुआ है। साहित्य की वर्तमान प्रगति को देखते हुए हमें पूर्ण विश्वास है कि इस न्यूनता की अपेक्षित पूर्ति होने में विलम्ब नहीं होगा।

गद्य साहित्य के अन्य रूप

हिन्दी का जीवनी-साहित्य अभी अर्द्ध-विकसित अवस्था में है। देवीप्रसाद मुन्सिफ, राधाकृष्णदास, संपूर्णानन्द, रामचन्द्र वर्मा, मन्मथनाथ गुप्त, गौरी-शंकर ओझा, सीताराम चतुर्वेदी आदि ने ऐतिहासिक एवं राजनैतिक और भारतीय तथा विदेशी महापुरुषों की जीवनियां लिखी हैं। महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दरदास, डा० राजेन्द्रप्रसाद आदि ने उल्लेखनीय आत्म-चरित लिखे हैं।

हिन्दी राष्ट्रभाषा और राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी है। उसमें काव्यात्मक साहित्य के अतिरिक्त ज्ञान-विज्ञान के विविध विषयों का

प्रचुर साहित्य लिखा जा रहा है। रायकृष्णदास, भातखंडे, हज़ारीप्रसाद द्विवेदी आदि ने ललित कला संबंधी विषयों पर अनेक पुस्तकें लिखी हैं। आयुर्वेद और आधुनिक स्वास्थ्य पर भी डा० त्रिलोकीनाथ वर्मा आदि ने कई ग्रंथ लिखे हैं। आचार्य नरेन्द्रदेव, डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, डा० प्राणनाथ विद्यालंकार, गोरखनाथ चौबे आदि राजनीतिक शास्त्र के; डा० भगवानदास केला, प्रो० केदारनाथ आदि अर्थशास्त्र के; गुलाबराय आदि तर्कशास्त्र के; डा० पद्मा अग्रवाल, डा० सरयूप्रसाद चौबे, आदि मनोविज्ञान के; श्रीनारायण चतुर्वेदी, सीताराम जायसवाल, सीताराम चतुर्वेदी आदि शिक्षाशास्त्र के; डा० भगवानदास, बलदेव उपाध्याय, राहुल सांकृत्यायन, डा० फतहसिंह, डा० देवराज आदि अध्यात्म दर्शन के; गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, जयचन्द विद्यालंकार, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, डा० ईश्वरी प्रसाद, डा० विश्वेश्वर प्रसाद, डा० परमात्माशरण आदि इतिहास के; हिन्दी ग्रंथ लेखकों में उल्लेखनीय हैं।

डा० रघुवीर, राहुल सांकृत्यायन आदि ने महत्त्वशाली पारिभाषिक शब्दकोषों का निर्माण किया है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, बाबू श्यामसुन्दरदास, डा० मंगलदेव शास्त्री, डा० उदयनारायण तिवारी, डा० बाबूराम सक्सेना, डा० सरयू प्रसाद अग्रवाल आदि भाषा विज्ञान के प्रतिष्ठित लेखक हैं। रसायनशास्त्र, भौतिक विज्ञान, वनस्पतिशास्त्र, गणित, ज्योतिष आदि पर भी ग्रंथ रचना हो रही है। आशा है कि आगामी कुछ ही वर्षों में हिन्दी गद्य-साहित्य का प्रत्येक अंग पर्याप्त विकसित हो जायगा।

लेखकों की भाषा शैली का संक्षिप्त परिचय

श्री बालकृष्ण भट्ट

श्री बालकृष्ण भट्ट का जन्म संवत् १९०९ में प्रयाग में हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा घर में हुई, बाद में स्कूल में हिन्दी, अंग्रेजी पढ़ी। संस्कृत का ज्ञानोपार्जन पंडितों से किया। बहुत समय तक हिन्दी-संस्कृत अध्यापन-कार्य स्कूलों में किया। हिन्दी प्रचार के लिए आपने लम्बे अर्से तक 'हिन्दी-प्रदीप' नामक पत्र निकाला। यह पत्र भट्ट जी के हिन्दी-प्रेम तथा तत्कालीन साहित्यिक चेतना का परिचय देता है।

भारतेन्दु युग के निबन्ध-लेखकों में भट्ट जी का स्थान कई दृष्टियों से उल्लेखनीय है। इनके निबन्धों में गहन अध्ययन और पांडित्य की छाप स्पष्ट देखी जा सकती है। अपने मंतव्य की स्थापना के लिए संस्कृत और अंग्रेजी के उद्धरण प्रस्तुत करके आप निबन्धों में जीवन-संचार करते थे। निबन्ध के सीमा-विस्तार के संबंध में आपकी धारणा थी कि निबन्ध को व्यर्थ के विस्तार से यथासंभव बचाना चाहिए। भाषा के संबंध में भट्ट जी का मत था कि यथाशक्ति प्रचलित और सरल शब्दों का प्रयोग ही निबन्ध को आकर्षित रूप देता है। उर्दू, फारसी और अंग्रेजी के शब्दों को शुद्ध तत्सम रूप में रखना भट्ट जी को अधिक पसंद था। मुहावरों के प्रयोग की तो आपको धुन थी। व्यंग्य और वचन-वक्रता आपके निबन्धों का प्राण कहा जा सकता है। पूर्वी भाषा का पुट प्रायः देखा जाता है।

साहित्यिक और गंभीर विषयों पर लिखते समय आपकी व्यंजना में परिवर्त्तन आ जाता है। भाषा संस्कृतगर्भित तथा उद्धरणबहुल हो जाती है। प्रस्तुत प्रबन्ध 'मन की दृढ़ता' एक विचारात्मक निबन्ध है जिसमें मन की गतिविधि पर गंभीर शैली से विचार व्यक्त किये हैं। मन की दृढ़ता से किस प्रकार व्यक्ति संसार के जटिल से जटिल कार्यों में विजय प्राप्त कर सकता है, यह सिद्ध किया गया है।

श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी

श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म संवत् १९२१ में ग्राम दौलतपुर जिला रायबरेली में हुआ। आपने मैट्रिक तक स्कूल में शिक्षा पायी। किंतु बाद में अपने विद्या-व्यसन के कारण हिंदी, उर्दू, अंग्रेजी और संस्कृत का अच्छा ज्ञान उपलब्ध किया। संस्कृत की पद-रचना इस बात का प्रमाण है कि आपका संस्कृत भाषा पर अच्छा अधिकार था। कुछ वर्षों तक रेलवे में तार बाबू के स्थान पर कार्य किया किन्तु बाद में साहित्य-सेवा के विचार से उस सरकारी नौकरी को छोड़ कर 'सरस्वती' पत्रिका के संपादक के रूप में कार्य करने लगे। बीस वर्ष तक 'सरस्वती' का सम्पादन कर आपने हिन्दी-भाषा और साहित्य की जो सेवा की है, वह हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा।

द्विवेदी जी को हिन्दी साहित्य में युग-प्रवर्त्तक कहा जाता है। विषय-विस्तार, नवोदित प्रतिभा को प्रोत्साहन देना आदि कुछ ऐसे विशिष्ट कार्य हैं जो उन्हें व्यक्ति से ऊपर उठा कर संस्था का रूप प्रदान कर देते हैं। उन्होंने स्वयं भी विपुल मात्रा में लिखा और प्रोत्साहन देकर अनेक लेखक और कवियों को लिखने में प्रवृत्त किया।

द्विवेदी जी की शैली में अनेकरूपता लक्षित होती है। विचारात्मक और गंभीर लेखों में तत्सम प्रधान पदावली का प्रयोग करके वे उसे साहित्यिक रूप देते हैं। इस शैली में प्रवाह का अभाव रहता है किन्तु भाषा का परिमार्जन सदा बना रहता है। व्यंग्यात्मक और वैज्ञानिक विषयों पर लिखे गए लेख सरल, तद्भव शब्दों से परिपूर्ण होते हैं। उनमें प्रवाह भी होता है और ओज भी। अंग्रेजी और संस्कृत के उद्धरण या उनके अनुवाद भी आपकी निबंध-शैली में स्थान पाते हैं। साहित्यिक निबंधों के अतिरिक्त द्विवेदी जी ने शिक्षा, समाज, व्यापार, राजनीति, धर्म, अर्थशास्त्र आदि बिभिन्न विषयों पर निबन्ध लिख कर अपनी विषय सीमा को इतना अधिक व्यापक बना लिया है कि उससे शैली में विविधता आना स्वाभाविक ही है।

द्विवेदी जी की शैली में खटकने वाली बात यह है कि वह सजीवता और व्यंग्य-वक्रता से प्रायः रहित होती है। जिस प्रकार आपकी कविताओं में

तथ्यपरक इतिवृत्त रहता है, लगभग उसी तरह लेखों में भी मौलिकता न होकर विषय-निरूपण का सामान्य विस्तारमात्र देखा जाता है।

श्री अध्यापक पूर्णसिंह

सरदार पूर्णसिंह का जन्म सन् १८८२ ई० में एबटाबाद में हुआ था। इण्टरमीजियेट तक शिक्षा प्राप्त करने के बाद आप रसायनशास्त्र की शिक्षा प्राप्त करने जापान गये। वहां से आने के बाद फोरेस्ट कालेज, देहरादून में कैमिस्ट पद पर नियुक्त हुए।

हिन्दी भाषा से प्रेम होने के कारण आप अपने नाम के साथ अध्यापक शब्द का प्रयोग करते थे। और अपनी मातृभाषा पंजाबी में न लिख कर हिन्दी में ही लेख लिखते थे। भावुकता, सहृदयता, प्रेम की मस्ती और सच्चरित्रता आपके व्यक्तित्त्व की विशेषताएं हैं। इन सब गुणों की छाप आपकी लेखन-शैली पर भी पड़ी। आपने परिमाण में बहुत अधिक नहीं लिखा, किन्तु जो कुछ लिखा, वह इतना अधिक सुन्दर है कि आपकी कीर्ति को स्थायी बनाने के लिए पर्याप्त है।

सरदार पूर्णसिंह के जीवन पर स्वामी रामतीर्थ का गहरा प्रभाव था। वेदान्त दर्शन के अद्वैत सिद्धांत को आपने अपने जीवन का आदर्श बना लिया था। ईश्वरीय सत्ता पर पूर्ण विश्वास करके आप संसार के प्रत्येक कार्य में लीन रहते थे। भावुकता के आवेश में जैसे कंठ गद्गद होकर आंखों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है, वैसे ही आपकी लेखनी से भावनाओं का झरना फूट पड़ता है। एक बात को कहने के लिए आप अनेकानेक उद्धरण, प्रकरण, दृष्टांत, प्रमाण, तर्क, युक्ति देते हुए लिखते चले जाते हैं। कहानी के मनोरम वातावरण में विचारात्मक विषय को प्रस्तुत करने की आप में अद्भुत क्षमता है।

आपकी भाषा में अनूठा लोच, मार्दव और आकर्षण रहता है जो सरसता और स्निग्धता के साथ प्रवाहपूर्ण अभिव्यक्ति का सुन्दर निदर्शन बनकर पाठक को मुग्ध कर लेता है। वाक्यों का गठन कहीं चुस्त-समास-शैली पर आधृत, तो कहीं व्यस्त व्यास-शैली पर आश्रित रहता है। उर्दू-फारसी के शब्दों का समीचीन प्रयोग आपकी व्यंजना को प्रेषणीय बनाने में सहायक होता है।

भावों में दार्शनिकता का पुट रहने पर भी गंभीरता और भाव-गरिमा का जैसा वातावरण लेखक उत्पन्न करता है, वह भाव, व्यंजना और भाषा, सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। परिश्रम के महत्त्व-प्रदर्शन के लिए 'मजदूरी और प्रेम' शीर्षक निबन्ध से जो चमत्कार लेखक ने पैदा किया है, वह आपकी शैली का सुन्दर उदाहरण है।

श्री श्यामसुन्दर दास

श्री बाबू श्यामसुन्दर दास का जन्म सम्वत् १९२२ में काशी में हुआ। प्रयाग विश्वविद्यालय से बी. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद आपने शिक्षक का कार्य प्रारम्भ किया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी की उच्च शिक्षा प्रारम्भ होने पर आप अध्यक्ष पद पर नियुक्त हुए। काशी नागरी प्रचारणी सभा के निर्माण में आपका बड़ा हाथ रहा। हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रचार, प्रसार तथा अध्यन-अध्यापन के लिए आपने जो कार्य किया वह हिन्दी साहित्य के इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगा।

अध्यापक होने के नाते आपकी गद्य, शैली में सुबोधता, सरलता और विषय-प्रतिपादन की नैसर्गिक क्षमता है। भाषा में तत्सम शब्दों का बाहुल्य रहने पर भी वाक्य-विन्यास में जटिलता नहीं रहती। शास्त्रीय विषयों के प्रतिपादन में कहीं-कहीं भाषा भाराक्रांत हुई है, किन्तु उन स्थलों पर आप एक ही बात को बार-बार घुमा-फिरा कर कहने के अभ्यासी हैं। भाषा में उर्दू फारसी शब्दों तथा मुहावरों का प्रायः अभाव रहता है। व्यंग्य, वक्रोक्ति, हास-परिहास आदि भी आपके निबन्धों में नहीं रहता। यही कारण है कि न तो आपके निबन्ध मनोरंजक होते हैं और न वैयिक्तकता के गुण से विभूषित। आपकी गद्य-शैली की एक ही विशेषता है कि उसमें विषय प्रतिपादन के अनुरूप वैज्ञानिक पदावली का समीचीन प्रयोग रहता है। प्रांजलता और परिमार्जन भी उसमें रहता है किन्तु निबन्ध का सरस प्रवाह और भाषा की स्निग्धता नहीं मिलती।

हिन्दी भाषा को व्यापक, सर्वजन सुलभ, वैज्ञानिक और समृद्ध बनाने में बाबू जी का अमित योगदान है। आपकी सेवाओं से प्रसन्न होकर हिन्दू विश्वविद्यालय ने आपको 'डाक्टर आफ लिटरेचर' की उच्च उपाधि से विभूषित किया था।

श्री रामचन्द्र शुक्ल

श्री आचार्य शुक्ल का जन्म उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले के अगोना नामक ग्राम में संवत् १९४१ में हुआ था। प्रारंभिक शिक्षा मिर्जापुर में हुई। वकालत पढ़ने के विचार से आपने प्रयाग विश्वविद्यालय में भी शिक्षा प्राप्त की किन्तु उसे छोड़ कर अध्यापक-वृत्ति ही करना प्रारम्भ किया। शैशव से ही हिन्दी भाषा के प्रति गहरा अनुराग होने के कारण सम-सामयिक हिन्दी-निर्माताओं के सम्पर्क में आये और उसी समय से रचना की ओर भी प्रवृत्ति हुई। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के 'हिन्दी-शब्द-सागर' कोश निर्माण के समय सम्पादक के रूप में कार्य किया और बाद में हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी अध्यापक बने। जीवन पर्यन्त वहीं रह कर कार्य करते रहे।

हिन्दी-साहित्य के प्रतिभाशाली लेखकों में आचार्य शुक्ल का स्थान आलोचक के रूप में सब से ऊंचा है। यथार्थ में हिन्दी के सब से अधिक समर्थ, प्रौढ़, गंभीर और सफल समीक्षक शुक्ल जी ही हैं। उनकी लेखन-शैली के मुख्यत: दो रूप हैं। समीक्षात्मक लेखों में उनका रूप गंभीर विवेचक का रहता है। इस कोटि के लेखों में उनकी भाषा तत्समप्रधान, समासबहुला तथा वस्तु-विन्यासपरक दृष्टिगत होती हैं। पांडित्य, शोध, विश्लेषण तथा विवेचन की गहराई के कारण लेखक की विद्वत्ता और प्रतिभा का पाठक पर स्थायी प्रभाव पड़ता है। दूसरे कोटि के निबंध वे हैं जो उन्होंने मनोविकार तथा भावों पर लिखे हैं। व्यक्तित्व की अमिट छाप लेकर इन निबंधों में शुक्लजी का गंभीर एवं सूक्ष्म दृष्टि का जैसा निखरा हुआ रूप सामने आया है वैसा हिंदी में किसी और की लेखनी में दृष्टिगत नहीं होता। इन निबंधों में भावों के प्रस्फुटन की दो शैलियां हैं। एक आगमन शैली और दूसरी निगमन शैली। आगमन शैली में निबंधकार वस्तु-विषय की व्याख्या करके अन्त में सूत्र रूप से उसका निष्कर्ष प्रस्तुत करता है। निगमन शैली में विषय-वस्तु को व्यक्त करने के लिए प्रारंभ में ही सूत्र रूप से बात प्रस्तुत कर दी जाती है, बाद में उसकी व्याख्या की जाती है। शुक्ल जी के निबंधों में निगमन शैली का बहुत अच्छा परिपाक हुआ है। व्यंग्य, हास्य, चुहुल और परिहास

की मीठी चुटकी लेने में शुक्ल जी बड़े कुशल हैं। अपनी मान्यता की स्थापना के लिए तर्क, युक्ति और प्रमाण का भी आश्रय देखा जाता है। ऐतिहासिक घटनाओं के संकेत भी बड़े संयम के साथ दिये जाते हैं। भारतीय संस्कृति की परम्परा उनकी निबंध शैली में छिपी रहती है। आलोचनात्मक निबंधों में उनकी भाषा अपेक्षाकृत क्लिष्ट है किन्तु दुरूह नहीं; शुक्लजी भावाभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त शब्द-निर्माण की क्षमता रखते थे इसलिए उनकी भाषा बहुत ही प्राणवान है।

श्री बाबू गुलाबराय

श्री बाबू गुलाबराय का जन्म इटावा में सम्वत् १९४४ में हुआ। आपने दर्शनशास्त्र लेकर एम. ए. पास किया। प्रारम्भ में छतरपुर रियासत में महाराज के प्राइवेट सेक्रेटरी रहे। वहां से आने के बाद स्वतंत्र रूप से लेखन-कार्य को ही जीविका के रूप में स्वीकार किया। आगरा के सेंट जान्स कालेज में हिन्दी-अध्यापक का कार्य भी बहुत समय तक किया। सम्प्रति साहित्य साधना और साहित्य सेवा ही आपका ध्येय बना हुआ है।

बाबू जी हिन्दी साहित्य में आलोचक रूप में प्रसिद्ध हैं। किन्तु वस्तुतः बाबूजी की प्रतिभा का सब से अधिक सुन्दर रूप हमें उनके निबंधों में दृष्टिगत होता है। निबंध को यदि आत्माभिव्यक्ति का सुन्दर साधन माना जाय तो बाबू जी के निबंध इस युग में सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होंगे। यद्यपि बाबू जी की समीक्षात्मक पुस्तकों का साहित्य-जगत् में अधिक प्रचार और सम्मान है तथापि बाबू जी आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ निबंध-लेखक हैं।

निबंध-क्षेत्र में आपकी वैयक्तिक शैली और मौलिकता का परिचय देने वाली पांच पुस्तकें पर्याप्त प्रसिद्ध ह। उनमें अन्तिम पुस्तक 'मेरे निबंध' इस बात का प्रमाण है कि बाबू जी जीवन और जगत् के सभी पहलुओं के प्रति जागरूक रहकर उन पर अपने स्वतंत्र और निष्पक्ष विचार व्यक्त करते रहते हैं। निबंधों में छोटे-छोटे वाक्यों में अभिव्यक्ति को समेट लेना और व्यंग्य हास्य के झीने आवरण में लपेट कर उसे पाठक तक पहुंचाना बाबू जी की विलक्षण क्षमता है। मुहावरे और लोकोक्तियों की भीड़ न होने पर यथावसर उनका सन्तुलित प्रयोग करने में उनकी दक्षता देखी जा

सकती है। भाषा में तत्सम शब्दावली का प्राधान्य ही देखा जाता है किन्तु कहीं-कहीं अभिव्यक्ति को सुस्पष्ट बनाने के लिए सामान्य शब्दों को भी बाबू जी भारी भरकम बनाकर अतुल शक्ति सम्पन्न बना देते हैं। साहित्यिक निबंधों में सामग्री का चयन करने की पटुता बाबू जी में है। गंभीर और शास्त्रीय विषयों को सुबोध, सरल और छात्रोपयोगी बनाने में जैसा कौशल बाबू जी अपने निबंधों में ला सके हैं हिन्दी में दूसरा कोई लेखक नहीं ला सका। इसी कारण बाबू जी के निबंधों का पठन-पाठन अत्यधिक होता है।

श्री वियोगी हरि

श्री वियोगी हरि का जन्म संवत् १९५३ में छतरपुर में हुआ। आप मूलतः कवि हैं। कविता प्रेम ने इनकी गद्य शैली को भी पूर्णतः प्रभावित किया है। आपको 'वीरसतसई' नामक ओजस्वी ग्रंथालंकार में जड़ित सात सौ दोहों के उपलक्ष में मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला। वियोगीजी ने वीर रस को ही सब रसों का आत्मा माना है।

वियोगी हरि प्रधान रूप से अध्यांतरिक गद्य लिखते हैं। गद्य में नाद अथवा लय उत्पन्न करने का श्रेय आपको ही है। इस गद्य के सौंदर्य और प्रभाव का आधार इनके अन्तर्निहित सत्य और सुन्दर भावनाएं तथा भावुकता है। इनके गद्य-गीतों में गद्य कलाकार के स्वप्न, ध्यानावस्था के विचार और भाव तथा उनके स्वगत भाषण ही अधिकांश मिलते हैं। इसलिए स्वगत भाषण की नाटकीय शैली का सौन्दर्य इनकी रचनाओं में सर्वत्र बिखरा हुआ है।

आन्तरिक भावनाओं की तीव्रता, सघनता और गहनता में परिवर्तन के अनुसार इनकी शैली में भी परिवर्तन हो जाता है। इसलिए वियोगीजी की विभिन्न रचनाओं की शैली में भी अन्तर आ गया है। जहां गद्य-काव्य की पांडित्यपूर्ण उद्भावना ही अभिप्रेत होती है उस समय हृद्गत भावनाओं की बाह्य जगत में वस्तुतः सम्यक्, स्पष्ट व्यंजना हो; इसकी इन्हें विशेष चिंता नहीं रहती। वहां इनकी अधिकांश भाव-व्यंजना दुरूह, संस्कृत तत्समता लिए हुए समासांत पदावली में हुई है।

संस्कृत शैली के अनुशीलन के कारण स्वभावतः भाषा स्थान स्थान पर सानुप्रासिक दिखाई देती है। वह अनुप्रास कृत्रिम नहीं वरन् प्रकरण

प्राप्त तथा अर्थ-व्यंजक होने के कारण सहज है अतएव सुन्दर और स्निग्ध भी ।

वियोगीजी अपने कथनों में व्यावहारिकता लाने के लिए वाक्य व्यतिक्रम भी ले आए हैं । 'आखिर' 'कैद' 'दर्द' 'खुदा' 'आफत' आदि उर्दू के तत्सम शब्दों का प्रयोग भी स्थान-स्थान पर किया है । वस्तुत: ऐसी ही भाषा शैली में इनके प्राणों का स्वर सुनाई देता है । इस शैली के अनुसरण में इन्होंने भावावेश की परिमार्जित व्यंजना के साथ धारा-प्रवाहयुक्त छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग किया है ।

श्री सम्पूर्णानन्द

श्री सम्पूर्णानन्द का जन्म उत्तर प्रदेश के सुप्रसिद्ध नगर बनारस में हुआ । आपने विज्ञान विषय में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी. एस-सी. परीक्षा उत्तीर्ण की । तदनन्तर अध्यापक बनने के विचार से एल-टी. की उपाधि प्राप्त की । कुछ दिन तक इंदौर, वृन्दावन तथा बनारस में अध्यापक के रूप में कार्य भी किया । किंतु आपकी रुचि सामाजिक एवं राष्ट्रीय कार्यों में विशेष थी अत: अध्यापन का कार्य छोड़ आप सक्रिय रूप से राजनीति में भाग लेने लगे । आपकी विद्वत्ता और प्रतिभा को देश की जनता और नेता दोनों ने पहचाना और क्रमश: शिक्षा मंत्री, गृह मंत्री तथा अब उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री के रूप में कार्य कर रहे हैं ।

राजनीति में सक्रिय भाग लेते हुए भी श्री सम्पूर्णानन्द की लेखनी सतत साहित्य निर्माण में लीन रही है । गंभीर दार्शनिक विषयों से लेकर समाजवाद तथा गांधीवाद आदि सामयिक समस्याओं पर आप गंभीर चिन्तक के रूप में विचार करते रहे हैं और ग्रंथ लिखते रहे हैं ।

सामान्यत: उनकी शैली पांडित्यपूर्ण एवं गंभीर विचार प्रधान है । किन्तु अध्यापक रहने और अब जन नायक होने के कारण उनकी शैली पर जनता अर्थात् पाठक को अपनी बात समझाने की प्रवृत्ति का बने रहना स्वाभाविक है । व्याख्याता की विवेचक एवं विश्लेषक वृत्ति भी उनके लेखों में दृष्टिगत होती है । उनकी शैली में ओज गुण का प्राधान्य रहता है । आपकी साहित्यिक रचनाओं का साहित्य सम्मेलन द्वारा सम्मान भी हुआ है । राज-

नीतिज्ञ नेता के लिए साहित्य के साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध बनाए रखना साधारणत: सरल नहीं किन्तु सम्पूर्णानन्द जी की प्रतिभा साहित्य के अधिक समीप है। इसी का फल है कि आप उच्च कोटि का साहित्य सृजन कर सके हैं।

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आलोचक तथा निबंधकार की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी-साहित्य में विशेष विख्यात हैं।

आपने काशी में रहकर संस्कृत साहित्य का गंभीर अध्ययन किया और काशी विश्वविद्यालय से 'साहित्य शास्त्राचार्य' की उपाधि प्राप्त की। शिक्षा के अपरान्त द्विवेदी जी 'शान्तिनिकेतन' में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हो गये और वहां श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा आचार्य क्षितिमोहन सेन के सम्पर्क में आकर साहित्य की साधना को अपना लक्ष्य बनाया। द्विवेदी जी के अध्ययन में एक ओर संस्कृत के विशाल साहित्यभंडार का ज्ञान है जिसके अन्तर्गत भारतीय संस्कृति, इतिहास, ज्योतिष, साहित्य और विभिन्न धर्मों तथा सम्प्रदायों आदि का गहन अध्ययन है। इस विस्तृत अध्ययनके परिणाम-स्वरूप इन्होंने साहित्यिक, सांस्कृतिक शोध सम्बन्धी तथा शिक्षा संबंधी विचारप्रधान निबन्ध लिखे हैं। सम्प्रति आप हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं।

इनके निबन्धों में शास्त्रीय विवेचन तथा ठोस बौद्धिक चिंतन की छाप मिलती है। कविता की कमनीयता नहीं। आपकी शैली में भावुकता और चमत्कार न होकर बौद्धिकता है। गवेषणा और विवेचना इनकी शैली की प्रमुख विशेषता हैं। विचारों के प्रवाह में तरलता है। शुक्ल जी की शैली में जहाँ गुम्फन है वहाँ द्विवेदी जी में विशद व्यापकता। इसी व्यापकता के कारण वर्णन शैली की बोधगम्यता एवं सरलता में विशेष वृद्धि हो जाती है। पाठक के मन में इनके निबन्धों से आचार्यत्व की छाप पड़ती है।

इनकी भाषा, भाव और अभिव्यक्ति में एक ऐसा अनूठा तारतम्य है कि पाठक स्वयं ही विषय की ओर आकृष्ट हो जाता है। भाषा संस्कृत प्रधान है परन्तु कहीं कहीं अत्यंत प्रचलित देशज शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। उर्दू और अंग्रेजी के शब्द विरल हैं। संस्कृत के उद्धरण अवश्य बीच-बीच

में मिलते हैं। शब्द-चयन और वाक्य-विन्यास सुन्दर है। छोटे और बड़े दोनों प्रकार के वाक्यों पर आपका समान अधिकार है। विचार-विवेचन के स्थल पर मिश्रवाक्य और भावपुष्टि के समय सरल वाक्यों का प्रयोग किया गया है। वस्तुतः गंभीर भावों के लिए भी सरल भाषा का इस विद्वत्ता के साथ निर्वाह किया गया है कि प्रवाह में कहीं शिथिलता नहीं आती। मुहावरों का प्रयोग अति न्यून है पर भाषा-सौष्ठव में इससे कमी नहीं आई।

श्री पदुमलाल पन्नालाल बख्शी

बख्शी जी का जन्म मध्य प्रदेश के जबलपुर जिले में सन् १८९४ ई. में हुआ। आपने बी. ए. तक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त साहित्य साधना को ही अपना ध्येय बनाया। बहुत समय तक आप प्रयाग में रहकर ही सम्पादन तथा स्वतंत्र लेखन कार्य करते रहे। आपके लगभग एक दर्जन निबंध संग्रह अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। इस समय आप अपने घर पर रहकर ही साहित्य-साधना करते रहते हैं।

बख्शीजी की शैली में अपनी मौलिकता की छाप दो रूपों में दृष्टिगत होती है—एक तो अध्ययन की पृष्ठ भूमि पर सिद्धान्तों की अवतारणा करने में, दूसरे अपने मनन और चिन्तन के द्वारा साहित्यिक मत-वादों के विषय में नवीन तथ्यों के समावेश करने में। उनकी भाषा शैली उनके अध्ययन और मनन का अच्छा परिचय देती है। वाक्य-विन्यास में लाघव के साथ सरलता और प्रसाद गुण उनके गद्य की प्रमुख विशेषता है। बख्शी जी ने इतिहास, दर्शन, आलोचना, कला, राजनीति आदि सभी विषयों पर निबंध लिखे हैं। सामयिक विषयों पर लिखे उनके लघुकाय निबंधों का संग्रह 'कुछ' तथा 'और कुछ' अपनी अभिनव शैली के परिचायक हैं। दैनिक जीवन की क्षणिक प्रियतम अनुभूतियां तथा मन पर पड़े अमिट संस्कारों का साहित्यिक लेखा-जोखा रखने की जो शैली बख्शी जी की है वह अंग्रेजी निबन्धकारों में उपलब्ध होती है। हिन्दी में इस कोटि के निबन्धकार विरल हैं। द्विवेदी युग का प्रभाव विरासत के प्राप्त करने के कारण भाषा परिष्कार और भाव सारल्य ही होना आपके लिए अनिवार्य है। बख्शी जी ने विपुल निबंध साहित्य का सृजन कर हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाया है।

श्रीमती महादेवी वर्मा

महादेवी जी का जन्म संवत् १९६४ में फर्रुखाबाद जिले के एक सम्पन्न एवं कलाप्रेमी परिवार में हुआ । प्रारम्भिक शिक्षा घर पर माता जी के निरीक्षण में हुई । बाद में प्रयाग आकर संस्कृत में एम. ए. किया । आजकल प्रयाग महिला विद्यापीठ की प्रिंसिपल हैं । चित्रकला, संगीतकला आदि में भी प्रवीणता प्राप्त करके जीवन को कलामय में बनाने आप पूर्ण रूप से सफल हुईं । बौद्ध दर्शन और उपनिषदों के अध्यात्म तत्व की ओर अभिरुचि होने से रहस्यात्मक रचना की ओर आपकी निसर्गतः प्रवृत्ति हुई और वर्तमान युग के कवियों में आप रहस्य भावना का अंकन सर्वश्रेष्ठ रीति से करने में समर्थ हैं।

महादेवी के काव्य को मूलतः रहस्य भावनाओं से पूर्ण कहा जाता है। कविता के क्षेत्र से बाहर आने पर आपने गद्य में भी अनेक अभिनव प्रयोग किए। 'यामा' और 'दीपशिखा' की भूमिका में जिस गद्य का दर्शन होता है वह चिन्तनपूर्ण परिष्कृत गद्य का सुन्दर निदर्शन है। उनका सहज संवेदनशील, संघर्षमय जीवन उनके गद्य में वाणी का वर्चस्व लेकर प्रतिध्वनित होता है । 'शृंखला की कड़ियां', 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएं', इस कथन के प्रमाण हैं कि अपने प्राणों के उत्पीड़न को भाषा के माध्यम से इससे सुन्दर ढंग से प्रकट नहीं किया जा सकता।

महादेवी की गद्य शैली पद्य की भांति रहस्यमयी या अव्यक्त नहीं है— कल्पना की उड़ान से रहित अनुभूति का गहरा पुट होने के कारण उनकी अभिव्यक्ति इतनी मार्मिक और आकर्षक है कि पाठक सहज ही उसमें लीन होकर रसानुभूति करने लगता है। सामान्यतः कवित्व का मधु-सिंचन करके वे अपने गद्य को शुष्क, बोझिल और दुरूह होने से बचा लेती हैं। सामाजिक विषयों पर लिखे गए लेखों में एक प्रकार का तीव्रदंश, ज्वाला और तार्किकता पाई जाती है। अपने एक शब्द या वाक्य से पाठक के हृदय में चिन्तापूर्ण आकुलता जागृत करने की उन्हें अपूर्व क्षमता है। चित्रमयता उनकी शैली की प्रमुख विशेषता है। संस्कृत की तत्सम शब्दावली के बाहुल्य विचारों की प्रौढ़ता ने अभिव्यंजना को गंभीर और कहीं कहीं दार्शनिक

बना दिया है। विषयवस्तु के अनुरूप महादेवी ने एक ऐसी प्रांजल एवं पुष्ट गद्य हिन्दी साहित्य को दिया है जो साहित्य की अमूल्य निधि कहा जायगा।

१२. श्री बनारसीदास चतुर्वेदी

श्री चतुर्वेदी का जन्म संवत् १९४९ में उत्तर प्रदेश के मैनपुरी जिले में हुआ। बचपन से ही आपकी प्रवृत्ति पर्यटन और विविध विषयों का ज्ञानार्जन करने की रही है। स्कूली शिक्षा के बाद आपने हिन्दी तथा अंग्रेजी द्वारा अपने विचार व्यक्त करना प्रारम्भ किया किन्तु प्रारम्भ में उपयुक्त स्थान और साधन न मिलने से अध्यापन को अपनाया। वहां भी आपकी आभ्यंतर जिज्ञासा का शमन न हुआ। आप प्रारम्भ से ही ऐसे पत्र-पत्रिका की खोज में रहे जिसमें लिखकर सच्चे अर्थों मनस्तुष्टि प्राप्त हो सके। सौभाग्य से 'विशाल भारत' में आपको रुचि का वातावरण मिला और आपने लम्बे अरसे तक उसका अपनी रीति-नीति से सम्पादन किया। इस काल में हिन्दी की अनेक प्रवृत्तियों पर आपने आलोचनात्मक शैली से लिखा और हिन्दी का विषय-क्षेत्र व्यापक बनाया।

चतुर्वेदीजी हिन्दी के सफल पत्रकार हैं। हिन्दी पत्रकारिता को जिन महानुभावों ने अपनी प्रतिभा और योग्यता से अन्य भाषाओं के समकक्ष खड़ा होन का बल दिया है उनमें चतुर्वेदीजी का विशिष्ट स्थान है। आपकी शैली में वार्तालाप और संलाप का शोभन रूप रहता है। आप शब्दों के सरल रूप के साथ तद्भव का प्रयोग कर अधिक बल देते हैं। 'संस्मरण', 'रेखाचित्र' तथा 'जीवनी' लिखने में आपको जैसी कुशलता प्राप्त हुई है वैसी हिन्दी में बहुत कम लोगों को है। जिस समय पाठक आपका लिखा संस्मरण पढ़ता है तो उसे लगता है कि वह स्वयं उस व्यक्ति के सम्पर्क में बैठा है और जैसे उससे साक्षात्कार कर रहा है। यथार्थ में संस्मरण की यही विशेषता है। चतुर्वेदीजी का परिचय क्षेत्र बहुत व्यापक है। भारतवर्ष के नेताओं के अतिरिक्त विदेशी महानुभावों से भी आपकी साहित्यिक तथा सामाजिक चेतना पर विचार विनिमय होता रहता है।

१३. श्री हरिभाऊ उपाध्याय

श्री हरिभाऊ जी का जन्म सन् १८९२ ई. में उज्जैन के भौंरासा स्थान

में हुआ। अध्यापन कार्य से आपका जीवन प्रारंभ हुआ। शैशव से ही साहित्य-प्रेमी होने के कारण लिखना आरम्भ कर दिया था। हिन्दी के साथ गुजराती, मराठी, संस्कृत और अंग्रेजी भाषा का भी आपने अच्छा ज्ञानार्जन किया। साहित्य के प्रति रुचि होने के साथ गांधीवादी विचारधारा का भी प्रभाव पड़ा और राजनीति की ओर भी आप आकृष्ट हुए। लगभग आधे दर्जन पत्र-पत्रिकाओं के आप सम्पादक रहे हैं। राजनीति और साहित्य से सम्बद्ध विषयों पर आपकी एक दर्जन पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

इनकी निबन्ध शैली के दो गुण हैं—सरलता और प्रांजलता। इन दोनों गुणों का आधान वे अपने व्यक्तित्व के सम्मिश्रण से करते हैं। लेख में भी आप साधारण बोलचाल के शब्द प्रयोग करते हैं—पढ़ते ऐसा लगता है कि जैसे हम किसी से बात सुन रहे हों। स्वभाव की सादगी के साथ अभि-व्यक्ति में भी सादगी है और जो शैलीगत गुण बन गया है।

गांधीवादी साहित्य के तथा विचारधारा के अधिक निकट रहने के कारण आपकी शैली पर भी इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। गुजराती और अंग्रेजी के ग्रंथों के हिन्दी रूपान्तर करने में तो आपको अद्‌भुत क्षमता प्राप्त है।

१४. श्री नगेन्द्र

हिन्दी साहित्य में शास्त्रीय आलोचना के पक्ष का समर्थन करने वाले नवीन समीक्षकों में डा. नगेन्द्र का नाम शैली निर्माता की दृष्टि से अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

आपका जन्म अतरौली (जि. अलीगढ़) में सन् १९१४ में हुआ। आगरा विश्वविद्यालय से अंग्रेजी विषय लेकर एम. ए. तथा नागपुर विश्व-विद्यालय से हिन्दी में एम. ए. किया। दस वर्ष तक कालेज ऑफ कार्मस, दिल्ली में अंग्रेजी के अध्यापक रहे। आगरा विश्वविद्यालय से १९४६ में 'रीतिकाव्य और कविदेव' विषय पर निबंध लिखकर डी. लिट् की उपाधि प्राप्त की। सम्प्रति आप दिल्ली विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं। आपका साहित्यिक जीवन कवि के रूप में से प्रारम्भ होता है। 'वनबाला' और 'छन्दमयी' दो कविता संग्रह प्रकाशित हुए हैं। आलोचना क्षेत्र में आपकी 'रीतिकाव्य की भूमिका', 'देव और उनकी कविता', 'विचार अनुभूति',

'विचार और विवेचन', 'साकेत : एक अध्ययन', 'सुमित्रानन्दन पन्त', 'आधुनिक हिन्दी नाटक', 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां', 'भारतीय साहित्य-शास्त्र की भूमिका', 'विचार और विश्लेषण' नामक ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं।

डा. नगेन्द्र की शैली अत्यन्त प्रौढ़, गंभीर, तथ्य-प्रधान और वैज्ञानिक सतर्कता से पूर्ण है। विषय-निरूपण के लिए जैसी भाषा और अभिव्यक्ति अपेक्षित होती है आपके निबंधों में वैसी ही दृष्टिगोचर होती है। गंभीरता के साथ हास-परिहास, चुहल, व्यंग्य, संलाप और स्वप्न के मनोरम वातावरण की सृष्टि करके आपने समीक्षा जैसे शास्त्रीय विषयों को कथा-कहानी का आकर्षक परिधान पहनाया है। आलोचना लिखने में इतनी स्पष्टता, स्वच्छता और गंभीरता का प्रयोग हिन्दी आलोचकों में कम ही दिखाई देता है। तत्सम शब्दों का प्रयोग बाहुल्य होने पर भी भाषा कहीं भी भारा-क्रान्त या अस्वाभाविक नहीं है। अंग्रेजी काव्य सिद्धान्तों का प्रयोग यथास्थान आपकी समीक्षा में रहता है किन्तु वह प्रकरण के साथ सुसम्बद्ध होकर ऐसा घुल-मिल जाता है कि उसे हृदयंगम करने में पाठक को कोई बाधा नहीं आती। आलोचना को शास्त्र सम्मत रखते हुए जैसा सुस्पष्ट और प्रांजल रूप आपने अपने निबंधों में दिया है निश्चय ही आचार्य शुक्ल के बाद किसी अन्य आलोचक ने नहीं दिया।

१५. सुश्री कंचनलता सब्बरवाल

डा. कंचनलता सब्बरवाल हिन्दी की प्रमुख उपन्यास लेखिकाओं में हैं। आपकी प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा दिल्ली में हुई। आपने संस्कृत और इतिहास शास्त्र में एम. ए. करने के बाद पी. एच. डी. की उपाधि प्राप्त की। प्रारम्भ से ही शिक्षा संस्थाओं में अध्यापन कार्य कर रही हैं। सम्प्रति आप महिला विद्यालय कालेज, लखनऊ में प्रिंसिपल हैं।

उपन्यास और कहानी आपके प्रिय विषय हैं। 'स्वाधीनता की ओर' 'भटकती आत्मा' और 'त्रिवेणी' आपकी प्रसिद्ध रचनाएं हैं। नागरिक शास्त्र पर आपने 'नागरिक शास्त्र दर्पण' नामक ग्रंथ लिखा है। प्रस्तुत लेख इसी पुस्तक से उद्धृत किया गया है।

आपकी शैली का प्रधान गुण है प्रसाद। विषय को रोचक और आकर्षक

बनाने के लिए कथा-साहित्य में जैसे सुष्ठु संवादों की अवतारणा की जाती है वैसे ही आप सभी विषयों के प्रतिपादन में सरल भाषा और सुबोध वाक्य-विन्यास रखती हैं । संस्कृत भाषा का ज्ञान आपकी शब्दावली से स्पष्ट झलकता है । मनोवैज्ञानिक शैली का प्रयोग उपन्यासों में किया है किन्तु नागरिक शास्त्र पर लिखते समय अध्यापक की शैली की ही प्रधानता रही है । यह निबंध आपकी शैली का समग्र रूप से प्रतिनिधित्व नहीं करता किन्तु विषयानुकूल होने के कारण उसे इस संकलन में स्थान दिया गया है ।

१६. महात्मा गांधी

विश्व वंद्य महात्मा गांधी मूलत: अंग्रेजी और गुजराती भाषा के लेखक थे । हिन्दी उनकी जन्म-भाषा नहीं, अर्जित भाषा थी । भारत के लोकनायक के लिए लोकभाषा का माध्यम ग्रहण करना स्वाभाविक था अत: वे अपनी प्रार्थना तथा सामूहिक वक्तृताओं में हिन्दी का बड़े आनन्द के साथ प्रयोग करते थे । अत: गांधीजी की हिन्दी भाषा शैली पर विचार करते समय उनकी सीमाओं का ध्यान रखना अनिवार्य हो जाता है ।

गांधीजी की शैली प्रवचन-शैली है । उनकी वाणी सन्तवाणी है । उस शैली की विशेषता यही है कि भावाभिव्यक्ति के लिए हृदय की तल्लीनता इतनी गहरी होती है कि भाव और भाषा का अन्तर कम से कम रह जाता है। उनकी भाषा में सहजता—स्वाभाविक प्रेषणीयता का पुट हृदय की गहराई से आकर शैली में घुल-मिल जाता है। यथार्थ में गांधीजी की भाषा या वाणी को आत्मा की भाषा ही समझना चाहिए । उसमें कृत्रिमता या साहित्यिक अलंकृति के लिए अवकाश ही कहां रहता है । गांधीजी की मातृ-भाषा गुज-राती थी अत: व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियों का होना सहज है । किन्तु इन त्रुटियों की ओर पाठक का ध्यान इसलिए नहीं जाता कि वह आत्मा की पुकार सुनने में आनन्द लेता रहता है । प्रस्तुत लेख तो महात्मा गांधी का सर्वप्रिय लेख है जिसमें जान रस्किन की सुप्रसिद्ध रचना 'अनटु दि लास्ट' की विचार-धारा को अपना कर गांधी जी ने अपनी भाव योजना की है। वाक्य-विन्यास पर इसी कारण कहीं-कहीं अंग्रेजी का भी प्रभाव है ।

१७. श्री किशोरलाल मश्रूवाला

श्री मश्रूवाला गांधीवादी विचारधारा के प्रबल समर्थक. अध्येता और व्याख्याता हैं। हिन्दी भाषा आपकी उपार्जित भाषा है। गुजराती और अंग्रेजी से ही आपने अधिकांश लिखा है। प्रस्तुत निबंध 'समाजवाद या समाज-धर्म' आधुनिक युग की एक विशिष्ट विचारधारा पर गंभीर चिन्तन शैली से प्रकाश डालने वाला लेख है। वाक्य-विन्यास छोटा और शब्द रचना सरल है। शैली की विशेषता यही है कि राजनीति और धर्म की पृष्ठभूमि पर विचारशील लेखक ने इतने सहज रूप से विचार व्यक्त किये हैं कि पाठक पर किसी प्रकार का बोझ नहीं पड़ता—वरन् शनैः-शनैः उन विचारों को आत्मसात् करता जाता है जो विद्वान् लेखक के उसमें व्यक्त किये हैं। उर्दू तथा बोलचाल के सरल शब्द लेखक की पूंजी के रूप में आये हैं। महात्मा गांधी ने स्वयं मश्रूवाला जी के विषय में लिखा है कि थोड़े से शब्दों में बहुत से विषयों का समावेश भाई किशोरलाल कर सके हैं—यही उनकी विशेषता है।

जीवन और साहित्य

: १ :

अजेय सत्याग्रही

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

महात्मा गांधी प्रायः यही कहा करते थे कि सत्याग्रही की हार कभी नहीं होती। सत्याग्रही प्रत्येक दशा में केवल जीतता ही है। यह महात्मा जी का विश्वास नहीं था, उनके समूचे तत्त्व-ज्ञान का मेरुदण्ड था। वे भारतवर्ष की विशाल सन्त-परम्परा के नर-रत्न थे। बहुत-सी बातों में उनकी तुलना पूर्ववर्त्ती सन्तों और ऋषियों से की जाती है, परन्तु एक बात में वे सबसे निराले थे। अपनी आध्यात्मिक साधना को उन्होंने वैयक्तिक साधना नहीं बताया और न साधना को सिद्धि की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण समझा। अहिंसा और मैत्री उनके मत से केवल "परमो धर्मः" नहीं थे, परम साधक भी थे। वे अकेले अपने आपकी मुक्ति की चिन्ता से व्याकुल नहीं थे, समूचे देश को और समूची मनुष्य-जाति को अपने साथ ले चलना चाहते थे। जो व्यक्ति अकेले ही कोई सिद्धि पाने की चेष्टा करता है वह एक बात से निश्चिन्त रहता है। वह इस बात की परवाह नहीं करता कि उसने जिस बात को सिद्धि-सोपान माना है उसे दूसरा उतनी ही दृढ़ता से सिद्धि-सोपान मानने को प्रस्तुत है या नहीं, परन्तु जो अपने साथ सहस्रों-लाखों को किसी बड़े लक्ष्य तक ले जाने का प्रयत्न करता है उसकी समस्या जटिल होती है, उसे धैर्यपूर्वक दूसरों की शंकाओं की बात सुननी पड़ती है और उसके चित्त में सत्य तक पहुंचने के लिए विवेक और उत्साह जागरित करते रहना पड़ता है। महात्मा जी

को ऐसा प्रायः ही करना पड़ता था। सबकी बुद्धि इतनी कुशाग्र नहीं होती कि हर बाधा को बहुत छेद कर तत्त्व तक पहुंच जाए, इसीलिए गुरु की आवश्यकता साधना के लिए अत्यन्त आवश्यक मानी गयी है। जब महात्मा जी कहते थे कि सत्याग्रही की कभी हार होती ही नहीं, तो उनके वक्तव्य के लक्ष्य उनके आलोचक नहीं, उनके अनुयायी होते थे। महात्मा जी के इस वाक्य में जो सन्देश है वह उन लोगों के लिए है, जो अहिंसा और मैत्री के मार्ग से चलकर सम्पूर्ण मानव-समाज में अहिंसा और मैत्री का धर्म प्रतिष्ठित कराना चाहते हैं। उनकी साधना व्यक्तिगत साधना हो सकती है, पर उनका लक्ष्य व्यक्तिगत नहीं होता, वह सम्पूर्ण समाज को कल्याण के प्रति सचेष्ट करना चाहता है। वस्तुतः जब अहिंसा को साधक और साध्य दोनों कहा जाता है, तो उसका यही अर्थ हो सकता है कि मन, वचन और कर्म की व्यक्तिगत अहिंसा और मैत्री धर्म के द्वारा समूची मनुष्य-जाति को इस महान् सत्य के प्रति उन्मुख और इसे उपलब्ध करने के लिए प्रयत्नशील बनाना है। व्यक्तिगत अहिंसा और मैत्री का धर्म साधन है—और उसकी सामूहिक रूप में उपलब्धि साध्य।

हार और जीत है क्या वस्तु? जब हम इन शब्दों का व्यवहार करते हैं, तो हमारे मन में किसी न किसी प्रकार की एक लड़ाई की कल्पना होती है। हम किसी प्रतिपक्ष को दबा कर अपने मनोनुकूल लक्ष्य तक पहुँच जाते हैं तो उसे जीत कहते हैं और जब प्रतिपक्ष ही प्रबल हो जाता है और हमें अपने लक्ष्य तक पहुँचने नहीं देता तब हम निराश होकर अपनी हार मान लेते हैं। साधारण मनुष्य अपने हर छोटे-मोटे प्रयत्नों में एक न एक प्रकार का संघर्ष देखता है। उसके प्रयत्नों का सब से अन्तिम किनारा जीत या हार है, शेष कर्मप्रवाह संघर्ष है, या प्रतिपक्ष को दबा देने

की लड़ाई है। इसीलिए वह अपने प्रयत्नों की सफलता के लिए चिन्तित होता रहता है। यदि वह चिन्तित न हो, तो उसका संघर्ष निर्बल पड़ सकता है और अवसर मिलते ही प्रतिपक्ष उसको दबा दे सकता है, परन्तु सब संघर्षों में यह बात नहीं होती। जहां साधन और साध्य में भेद होता है वहां तो यह समस्या बड़ी जटिल हो उठती है। प्रेम यदि चित्त में हो और प्रतिपक्ष को दबाना नहीं, बल्कि उसे उठाना लक्ष्य हो तो मनुष्य के मन में हार की बात आ ही नहीं सकती। नितान्त छोटी-छोटी बातों में भी इसकी परीक्षा की जा सकती है। पिता अपने छोटे बच्चे के साथ खेलता है तो हारने को बुरा नहीं मानता। प्राचीन काल से ही लोग 'पुत्रात् शिष्यात् पराजयम्' पुत्र और शिष्य से पराजय की ही कामना करनी चाहिए––यह मत गर्वपूर्वक मानते आ रहे हैं। क्योंकि वहां यद्यपि पुत्र के साथ एक प्रकार की प्रतिपक्ष भावना ही होती है, पर वह प्रतिपक्ष भावना लड़ाई नहीं होती। उसमें प्रतिपक्षी के प्रति प्रीति और उसे और बड़ा बनाने की भावना प्रबल होती है। इस "संघर्ष" की हार हार नहीं होती, क्योंकि उसमें आरम्भ से अन्त तक प्रेम ही प्रेम होता है।

प्रेम की लड़ाई में हार और जीत केवल शब्दमात्र हैं, जो वस्तुतः एकार्थक हैं या निरर्थक हैं। सत्याग्रही की लड़ाई प्रेम की लड़ाई होती है, इसीलिए उसमें हार और जीत का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। जिसे अपने कार्यों और आदर्शों में अखण्ड विश्वास न हो वह सत्याग्रही नहीं हो सकता और जो यह विश्वास लेकर ही अग्रसर हुआ है कि वह तथाकथित प्रतिपक्षी को और भी उन्नत, और भी कल्याणकारी बनायेगा उसे हारने की आशंका कैसे हो सकती है?

जो लोग महात्मा जी के इस प्रकार के अखण्ड विश्वास को

नहीं समझ सकते थे उन्हें ही यह शंका होती थी कि महात्मा जी के अमुक कार्य से हार हो जाने की सम्भावना है। जो लोग उनके आलोचक थे उनके हृदय में यह बात आती ही नहीं थी कि शत्रु से भी प्रेम किया जा सकता है। महात्मा जी ने जब कहा था कि मैं तो अंग्रेजों की भलाई के लिए कहता हूं कि वे इस देश को छोड़ कर चले जाएं तो लोगों ने इसका परिहास किया था। एक बार एक सज्जन ने यहां तक कहा था कि यह महात्मा जी का सबसे बड़ा चकमा देने वाला वाक्य है! उनके कहने का मतलब यह था कि महात्मा जी ने ऐसा कह कर अपने प्रयत्नों को दुनिया की दृष्टि में ऊंचे स्तर पर ले जाने की चेष्टा की थी। इस प्रकार के विचार करने वालों को महात्मा जी की कोई भी बात समझ में नहीं आती थी। क्योंकि वे अपने सड़े हुए संस्कारों की सीमा से बाहर नहीं आ सकते थे। महात्मा जी ने किसी को अपना शत्रु नहीं समझा। उन्होंने सब को मित्र समझा। जो लोग भूल करते थे उन्हें भी वे अपना मित्र ही समझते थे, उनकी भूलों को सुधारना वे अपना कर्त्तव्य मानते थे। उनके आलोचक कभी इस बात को नहीं समझ सके, परन्तु केवल उनके आलोचक ही नहीं उनके अनुयायियों के मन में भी कभी-कभी यह शंका होती थी कि उनके प्रयत्नों की हार हो जाने की संभावना है। इन लोगों में प्रेम-धर्म उतनी मात्रा में नहीं होता था, जितने की आवश्यकता सत्याग्रही को होती है। उन्हीं के लिए महात्मा जी का यह उपदेश था——सत्याग्रही कभी नहीं हारता।

जिसका साधन पवित्र होता है, जो मन से, वचन से और कर्म से पर-कल्याण की कामना करता है वह हार नहीं सकता। क्योंकि आरम्भ से अन्त तक उसके साधन में और सिद्धि में कोई भेद नहीं होता। ऐसा हो सकता है कि जिस भूल को वह सुधारना चाहता है उसको एक बहुत बड़े समुदाय ने भूल न समझ कर सत्य

मान लिया हो और उस मान्यता के कारण वह भूल बहुत शक्ति-शाली हो गई हो और सत्याग्रही अपने प्रयत्नों में सामयिक भाव से असफल हो जाय, पर इसे हार नहीं कह सकते। इस देश में अस्पृश्य समझी जाने वाली जातियों के साथ जो दुर्व्यवहार होता है वह एक बड़ी भूल ही है, पर लोगों ने उसे 'धर्म' मान लिया है। 'धर्म' वह है नहीं, परन्तु मनुष्य के चित्त का सहारा पाकर वह विश्वास शक्तिशाली अवश्य हो गया है। सत्याग्रही उन जातियों को नष्ट नहीं करना चाहता जो इस दुर्व्यवहार के लिए उत्तरदायी हैं, वह उन्हें बड़े भारी पाप से उबारना चाहता है उसका उद्देश्य भी पवित्र होता है और वह मार्ग भी पवित्र ही चुनता है। उसे सफलता या असफलता केवल लोक-प्रचलित अर्थ में ही मिलती है। वस्तुतः उसको सिद्धि प्रतिक्षण मिलती रहती है। प्रेम से बढ़ कर और कौन-सी सिद्धि है। वह पग-पग पर उसी प्रेम की साधना करता रहता है। बहुत से लोग समझते हैं कि दूसरों को सुधारने की इच्छा एक दम्भमात्र है, मनुष्य वस्तुतः अपना ही सुधार कर सकता है। 'इच्छा' अवश्य बहुत बड़ी बात नहीं है, परन्तु प्रेम के आदर्श पर चलने वाले व्यक्ति की इच्छा और कर्म दोनों ही उसे सुधारते रहते हैं। सत्याग्रही नित्य अपनी ही साधना से पवित्र होता रहता है, जिस दिन उसके पवित्र होते रहने की साधना समाप्त हो जाए, वह अपने को परमसिद्ध मान ले, उसी दिन उसका विकास रुक जाता है। प्रेम बड़ी पावन वस्तु है। जिसे उसका संस्पर्श मिलता है वह पवित्र हो ही जाता है, परन्तु जिस दिन मन में आग्रह का भाव प्रेम के भाव से मजबूत हो जायगा उस दिन सत्याग्रही सत्याग्रही नहीं रह जाता।

महात्मा जी के जन्म-दिन के पुण्य अवसर पर हमें दृढ़ता के साथ उनकी महान् प्रेम-साधना की बात को स्मरण करना

चाहिए। मनुष्य का कल्याण ही लक्ष्य है, मनुष्य के प्रति अखण्ड प्रेम ही मार्ग है और मनुष्य की महिमा में अखण्ड विश्वास ही संबल है। जिनके मन में ये बातें होगीं वे हार नहीं सकते। हारता वह है जिसके मन में प्रेम नहीं होता, विश्वास नहीं होता। जो हारता नहीं, वह डरता भी नहीं। महात्मा जी के देश में कम-से-कम भय को तो कोई स्थान नहीं मिलना चाहिए। फिर भी दुर्भाग्यवश भय ने भी हमारे देशवासियों को ग्रस लिया है। जिस महामानव ने बड़े-से-बड़े अन्यायी के सामने सिर नहीं झुकाया, बड़े-से-बड़े नाम वाले दम्भ का विरोध करने में झिझक नहीं दिखायी और सदैव प्रतिपक्षी को प्रेम से ही जीतने का प्रयास किया उसके देशवासियों को अधिक उदार और महान् बनना चाहिए। हम जब भय और शंका के शिकार होते हों, तो समझना चाहिए कि प्रेम के आदर्श से हट रहे हैं। जो प्रेम का पथिक नहीं होता वही झिझकता है, डरता है, हारता है। सत्याग्रही का मार्ग प्रेम का मार्ग होता है। वह दुनिया की दृष्टि में असफल होने पर भी हारता नहीं! हार उसकी होती है, जो प्रतिस्पर्द्धावश, घृणावश या लोभवश संघर्ष करता है। महात्मा जी ने जो मार्ग बताया है वह प्रेम का मार्ग है, मैत्री का धर्म है! उसमें कभी हार नहीं होती।

: २ :

जीवन-गाथा

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

नहीं कह सकता, शिक्षा-प्राप्ति की तरफ प्रवृत्ति होने का संस्कार मुझे किससे हुआ——पिता से या पितामह से या अपने ही किसी पूर्व जन्म के कृत कर्म से। बचपन ही से मेरा अनुराग तुलसी-दास की 'रामायण' और ब्रजवासीदास के 'ब्रज विलास' पर होगया था। फुटकर कवित्त भी मैंने सैकड़ों कंठ कर लिये थे। हुशंगाबाद में रहते समय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'कवि-बचन-सुधा' और गो-स्वामी राधाचरण के एक मासिक पत्र ने मेरे उस अनुराग की वृद्धि कर दी। वहीं मैंने बाबू हरिश्चन्द्र कुलश्रेष्ठ नाम के एक सज्जन से, जो वहां कचहरी में मुलाजिम थे, पिंगल का पाठ पढ़ा। फिर क्या था। मैं अपने को कवि ही नहीं, महाकवि समझने लगा। मेरा यह रोग बहुत समय तक ज्यों-का-त्यों बना रहा। झांसी आने पर जब मैंने पंडितों की कृपा से प्रकृत कवियों के काव्यों का अनुशीलन किया, तब मुझे अपनी भूल मालूम हो गई और छन्दोबद्ध प्रलापों के जाल से मैंने सदा के लिए छुट्टी ले ली। पर गद्य में कुछ-न-कुछ लिखना जारी रखा। संस्कृत और अंग्रेजी पुस्तकों के कुछ अनुवाद भी मैंने किये।

जब मैं झाँसी में था तब वहाँ के तहसीली स्कूल के एक अध्या-पक ने मुझे कोर्स की एक पुस्तक दिखाई। नाम था, 'तृतीय रीडर'। उसने उसमें बहुत-से दोष दिखाये। उस समय तक मेरी लिखी हुई कुछ समालोचनाएँ प्रकाशित हो चुकी थीं। इससे उस अध्यापक ने

मुझसे उस रीडर की भी आलोचना लिखकर प्रकाशित कराने का आग्रह किया। मैंने रीडर पढ़ी और अध्यापक महाशय की शिकायत को ठीक पाया। नतीजा यह हुआ कि समालोचना मैंने पुस्तकाकार में प्रकाशित की। इस रीडर का स्वत्वाधिकारी था प्रयाग का इण्डियन प्रेस। अतएव इस समालोचना की बदौलत इण्डियन प्रेस से मेरा परिचय हो गया और कुछ समय बाद उसने 'सरस्वती' पत्रिका का सम्पादन-कार्य मुझे दे डालने की इच्छा प्रकट की। मैंने उसे स्वीकार कर लिया। यह घटना रेल की नौकरी छोड़ने के एक साल पहले की है।

नौकरी छोड़ने पर मेरे मित्रों ने कई प्रकार से मेरी सहायता करने की इच्छा प्रकट की। किसी ने कहा—आओ, मैं तुम्हें अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बनाऊंगा। किसी ने लिखा—मैं तुम्हारे साथ बैठ कर संस्कृत पढूंगा। किसी ने कहा—मैं तुम्हारे लिए एक छापाखाना खुलवा दूंगा, इत्यादि। पर मैंने सबको अपनी कृतज्ञता की सूचना दे दी और लिख दिया कि अभी मुझे आपके सहायता-दान की विशेष आवश्यकता नहीं। मैंने सोचा—अव्यवस्थित-चित्त मनुष्य की सफलता में सदा सन्देह रहता है। क्यों न मैं अंगीकृत कार्य ही में अपनी सारी शक्ति लगा दूं। प्रयत्न और परिश्रम की बड़ी महिमा है। अतएव 'सब तज हरि भज' की मसल को चरितार्थ करता हुआ, इंडियन प्रेस के प्रदत्त काम ही में मैं अपनी शक्ति खर्च करने लगा। हाँ, जो थोड़ा-बहुत अवकाश कभी मिलता तो मैं उसमें अनुवाद आदि का कुछ काम और भी करता। समय की कमी के कारण मैं विशेष अध्ययन न कर सका। इसी से 'संपत्ति-शास्त्र' नामक पुस्तक को छोड़कर और किसी अच्छे विषय पर मैं कोई नयी पुस्तक न लिख सका।

उस समय तक मैंने जो-कुछ लिखा था उससे मुझे टकों की

प्राप्ति तो कुछ हुई ही न थी। हाँ, ग्रन्थकार, लेखक, समालोचक और कवि की जो पदवियाँ मैंने स्वयं अपने ऊपर लाद ली थीं, उनसे मेरे गर्व की मात्रा में बहुत कुछ इजाफा जरूर हो गया। मेरे तत्कालीन मित्रों और सलाहकारों ने उसे पर्याप्त न समझा। उन्होंने कहा––"अजी कोई ऐसी किताब लिखो जिससे टके सीधे हों।" रुपये का लोभ चाहे जो करावे। मैं उनके चकमे में आ गया, यूरोप और अमरीका तक में प्रकाशित पुस्तकें मंगाकर पढ़ीं। संस्कृत भाषा में प्राप्त सामग्री से भी लाभ उठाया। बहुत परिश्रम करके कोई दो सौ सफे की एक पुस्तक लिख डाली। नाम उसका रखा 'तरुणोपदेश'। मित्रों ने देखा, कहा, "अच्छी तो है, पर इस में सरसता नहीं। पुस्तक ऐसी होनी चाहिए जिसका नाम सुनकर और विज्ञापन-मात्र पढ़कर ही खरीददार पाठक उस पर इस तरह टूटें जिस तरह गुड़ नहीं, बहते हुए व्रण या गन्दगी पर मक्खियों के झुण्ड-के-झुण्ड टूटते हैं। काम-कला लिखो, काम-किल्लोल लिखो, कन्दर्प-दर्पण लिखो, रति-रहस्य लिखो, मनोज-मंजरी लिखो, अनंग-रंग लिखो।" मैं सोच-विचार में पड़ गया। बहुत दिनों तक चित्त चलायमान रहा। अन्त में जीत मेरे मित्रों की ही रही। उनके प्रस्तावित नाम मुझे पसन्द न आये। मैं उनसे भी बांस भर आगे बढ़ गया। कवि तो मैं था ही, मैंने चार-चार चरण वाले लम्बे-लम्बे छन्दों में एक पद्यात्मक पुस्तक लिख डाली, ऐसी पुस्तक जिसके प्रत्येक पद्य से रस की नदी नहीं तो बरसाती नाला जरूर बह रहा था। नाम भी मैंने ऐसा चुना जैसा कि उस समय तक उस रस के अधिष्ठाता को भी न सूझा था। मैं तीस-चालीस साल पहले की बात कह रहा हूं, आजकल की नहीं। आजकल तो नाम बाजारू हो रहा है और अपने अलौकिक आकर्षण के कारण निर्धनों को धनी और धनियों को धनाधीश बना रहा है। अपने बूढ़े मुंह के

भीतर धंसी हुई जबान से, आपके सामने उस नाम का उल्लेख करते मुझे बड़ी लज्जा मालूम होगी। पर पापों का प्रायश्चित्त करने के लिए आप पंच समाज-रूपी परमेश्वर के सामने शुद्ध हृदय से उसका निर्देश करना ही होगा। अच्छा तो उसका नाम था या है—सोहाग रात। उसमें क्या है, यह आप पर प्रकट करने की जरूरत नहीं, क्योंकि—'परेंगितज्ञानफला हि बुद्धयः।'

मेरे मित्रों ने इस पिछली पुस्तक को बहुत पसन्द किया, उसे बहुत सरस पाया अतएव उन्होंने मेरी पीठ खूब ठोंकी। मैंने भी अपना परिश्रम सफल समझा। अब लगा मैं हवाई किले बनाने। पुस्तक प्रकाशित होने पर उसे युक्तिपूर्वक बेचूंगा, मेरे घर रुपयों की वृष्टि होने लगेगी, शीघ्र ही मैं मोटर नहीं तो एक विक्टोरिया खरीदकर उस पर हवा खाने निकला करूँगा। देहात छोड़कर दशाश्वमेध घाट पर कोई तिमंजिला मकान बनवा कर या मोल लेकर वहीं काशी-वास करूँगा। कई कर्मचारी रखूंगा। अन्यथा हजारों वेल्यू-पेबिल कौन रवाना करेगा।

परन्तु अभागों के सुख-स्वप्न सच्चे नहीं निकलते। मेरे हवाई महल एक पल में ढह पड़े। मेरी पत्नी कुछ पढ़ी-लिखी थी। उससे छिपाकर ये दोनों पुस्तकें मैंने लिखी थीं। दुर्घटना कुछ ऐसी हुई कि उसने ये पुस्तकें देख लीं। देखा ही नहीं, उलट-पलट कर उसने पढ़ा भी। फिर क्या था, उसके शरीर में कराला काली का आवेश हो आया। उसने मुझ पर वचन-विन्यास रूपी इतने कड़े कशाघात किये कि मैं तिलमिला उठा। उसने उन दोनों पुस्तकों की कापियों को आजन्म कारावास या काला पानी की सजा दे दी। वे उसके सन्दूक में बन्द हो गयीं। उसके मरने पर ही उनका छुटकारा उस दायमुलहब्स से हुआ। छूटने पर मैंने उन्हें एकान्त-सेवन की आज्ञा दे दी है, क्योंकि सती की आज्ञा का उल्लंघन करने की शक्ति मुझमें

नहीं। इस तरह मेरी पत्नी ने तो मुझे साहित्य के उस पंक-पयोधि में डूबने से बचा लिया। आप भी मेरे उस दुष्कृत्य को क्षमा कर दें तो बड़ी कृपा हो। इसी से मैंने इस बहुत-कुछ अप्रासंगिक विषय के उल्लेख की यहाँ जरूरत समझी।

'सरस्वती' के सम्पादन का भार उठाने पर मैंने अपने लिए कुछ आदर्श निश्चित किये। मैंने संकल्प किया कि (१) वक्त की पाबन्दी करूँगा। (२) मालिकों का विश्वास-पात्र बनने की चेष्टा करूँगा। (३) अपने हानि-लाभ की परवाह न करके पाठकों के हानि-लाभ का सदा खयाल रखूंगा। और (४) न्याय-पथ से कभी न विचलित हूँगा। इसका पालन कहाँ तक मुझसे हो सका संक्षेप में सुन लीजिए——

(१) सम्पादक जी बीमार हो गए, इस कारण 'स्वर्ग समाचार' दो हफ्ते बन्द रहा। मैनेजर महाशय के मामा परलोक प्रस्थान कर गए, लाचार 'विश्व-मोहिनी' पत्रिका देर से निकल रही है। 'प्रलयकारी' पत्रिका के विधाता का फाउण्टेनपेन टूट गया, उसके मातम में १३ दिन काम बन्द रहा। इसी से पत्रिका के प्रकटन में विलम्ब हो गया। प्रेस की मशीन नाराज हो गई। क्या किया जाता। 'त्रिलोक मित्र' का यह अंक इसी से समय पर न छप सका, इस तरह की घोषणाएं मेरी दृष्टि में बहुत पड़ चुकी थीं। मैंने कहा——मैं इन बातों का कायल नहीं। प्रेस की मशीन टूट जाय तो उसका जिम्मेदार मैं नहीं। पर कापी समय पर न पहुँचे तो उसका जिम्मेदार मैं हूँ। मैंने अपनी इस जिम्मेदारी का निर्वाह जी-जान होम करके किया। चाहे पूरा-का-पूरा अंक मुझे ही क्यों न लिखना पड़ा हो, कापी समय पर ही मैंने भेजी। मैंने तो यहाँ तक किया कि कम-से-कम छः महीने आगे की सामग्री सदा अपने पास प्रस्तुत रखी। सोचा कि यदि मैं महीनों बीमार पड़ जाऊं तो क्या

हो ? 'सरस्वती' का प्रकाशन तब तक बन्द रखना क्या ग्राहकों के साथ अन्याय करना न होगा ? अस्तु, मेरे कारण सोलह-सत्रह वर्ष के दीर्घ काल में एक बार भी सरस्वती का प्रकाशन नहीं रुका। जब मैंने अपना काम छोड़ा तब भी मैंने नये सम्पादक को बहुत बचे हुए लेख अर्पित किये। उस समय के उपार्जित और अपने लिखे हुए कुछ लेख अब भी मेरे संग्रह में सुरक्षित हैं।

(२) मालिकों का विश्वास-भाजन बनने की चेष्टा में मैं यहाँ तक सचेत रहा कि मेरे कारण उन्हें कभी उलझन में पड़ने की नौबत नहीं आई। 'सरस्वती' के जो उद्देश्य थे उनकी रक्षा मैंने दृढ़ता से की। एक दफा अलबत्ता मुझे इलाहाबाद के डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट के बँगले पर हाजिर होना पड़ा। पर मैं भूल से तलब किया गया था। उसी के संबंध में मजिस्ट्रेट को चेतावनी देनी थी। वह और किसी को मिली, क्योंकि विज्ञापनों की छपाई से मेरा कोई सरोकार न था।

मेरी सेवा से 'सरस्वती' का प्रचार जैसे-जैसे बढ़ता गया और मालिकों का मैं जैसे-जैसे अधिकाधिक विश्वास-भाजन होता गया वैसे-ही-वैसे मेरी सेवा का बदला भी मिलता गया और मेरी आर्थिक स्थिति प्रायः वैसी ही हो गई जैसी कि रेलवे की नौकरी छोड़ने के समय थी। इसमें मेरी कारगुजारी कम, दिवंगत बाबू चिन्तामणि घोष की उदारता ही अधिक कारणीभूत थी। उन्होंने मेरे सम्पादन-स्वातन्त्र्य में कभी बाधा नहीं डाली। वे मुझे अपना कुटुम्बी-सा समझते रहे, और उनके उत्तराधिकारी अब तक भी मुझे वैसा ही समझते हैं।

(३) इस समय तो कितनी ही महारानियाँ हिन्दी का गौरव बढ़ा रही हैं, पर उस समय एक मात्र 'सरस्वती' ही पत्रिकाओं की रानी नहीं, पाठकों की सेविका थी। तब उसमें कुछ छापना या

किसी के जीवन-चरित्र आदि प्रकाशित कराना जरा बड़ी बात समझी जाती थी। दशा ऐसी होने के कारण मुझे कभी-कभी बड़े-बड़े प्रलोभन दिये जाते थे। कोई कहता—मेरी मौसी का मरसिया छाप दो, मैं तुम्हें निहाल कर दूँगा। कोई लिखता—अमुक सभा में दी गई, अमुक सभापति की 'स्पीच' छाप दो, मैं तुम्हारे गले में बनारसी दुपट्टा डाल दूँगा। कोई आज्ञा देता—मेरे प्रभु का सचित्र जीवन-चरित्र निकाल दो तो तुम्हें एक बढ़िया घड़ी या पैरगाड़ी नजर की जायगी। इन प्रलोभनों का विचार करके मैं अपने दुर्भाग्य को कोसता और कहता कि जब मेरे आकाश-महलों को खुद मेरी ही पत्नी ने गिराकर चूर कर दिया, तब भला ये घड़ियाँ और गाड़ियाँ मैं कैसे हजम कर सकूँगा। नतीजा यह होता कि मैं बहरा और गूँगा बन जाता और 'सरस्वती' में वही मसाला जाने देता जिससे मैं पाठकों का लाभ समझता। मैं उनकी रुचि का सदैव खयाल रखता और यह देखता रहता कि मेरे किसी काम से उनको सत्पथ से विचलित होने का साधन न प्राप्त हो। संशोधन द्वारा लेखों की भाषा बहु-संख्यक पाठकों की समझ में आने लायक कर देता। यह न देखता कि यह शब्द अरबी का है या फारसी का या तुर्की का। देखता सिर्फ यह कि इस शब्द, वाक्य या लेख का आशय अधिकांश पाठक समझ लेंगे या नहीं। अल्पज्ञ होकर भी किसी पर अपनी विद्वत्ता की झूठी छाप लगाने की कोशिश मैंने कभी नहीं की।

: ३ :

राष्ट्रोन्नति में जातीय गर्व की महत्ता

बाबू गुलाबराय

विकास की आस भरा नवेन्दु सा,
हरा-भरा कोमल पुष्प-माल सा ।
प्रमोद-दाता विमल प्रभात सा,
स्वतंत्रता का शुचि पर्व आ लसा ।

पन्द्रह अगस्त का शुभ दिन भारत के राजनीतिक इतिहास में सबसे अधिक महत्त्व का है। आज ही हमारी सघन कलुष-कालिमामयी दासता की लौह श्रृङ्खलाएं टूटी थीं। आज ही स्वतन्त्रता के नवोज्ज्वल प्रभात के दर्शन हुए थे। आज दिल्ली के लाल किले पर पहली बार यूनियन जैक के स्थान में सत्य और अहिंसा का प्रतीक तिरंगा झण्डा स्वतन्त्रता की हवा के झोंकों से लहराया था। आज ही हमारे नेताओं के चिरसंचित स्वप्न चरितार्थ हुए थे। आज ही युगों की परतन्त्रता के पश्चात् शंख-ध्वनि के साथ जयघोष और पूर्ण स्वतन्त्रता का उद्घोष हुआ था।

इतने महत्त्व और हर्षोल्लास के पुण्यपर्व पर हमारा सबसे पहला कर्तव्य तो यही है कि हम अपने खोये हुए स्वाभिमान की पुन: प्राप्ति पर हर्ष मनायें और अपने में स्वतन्त्रता के उत्तरदायित्व की नवचेतना जागरित करें, किन्तु हम अपने वैयक्तिक स्वार्थों में इतने जकड़े हुए हैं, अपने आर्थिक अभावों (जिनमें कुछ कल्पित भी हैं) की चेतना से इतने आक्रान्त हैं और दलबन्दी के दलदल में इतने फंसे हुए हैं कि हम नैराश्य और विरक्ति के साथ कह

बैठते हैं कि स्वराज्य जिसके लिए आया होगा उसके लिए आया होगा, हमारे लिए तो वही अभावों से भरा जीवन है। हम आपके अभावों की महत्ता को कम नहीं करना चाहते, हम आपके साथ यह भी कहने को तैयार हैं कि 'भूखे भजन न होइ गोपाला', किन्तु हम यह नम्र निवेदन करना चाहते हैं कि रोटी के बिना जीवन-निर्वाह नहीं होता, यह तो ठीक है, किन्तु मनुष्य केवल रोटी पर नहीं जीता, उसमें स्वाभिमान भी होता है। वैयक्तिक स्वाभिमान से भी जातीय स्वाभिमान अधिक महत्त्व रखता है—'सब ते अधिक जाति अपमाना'—किन्तु हमने उस जातीय स्वाभिमान की परवाह नहीं की। हममें राष्ट्रीयता की वह सामूहिक चेतना नहीं जो स्वराज्य से पहले थी। हमने अपना तादात्म्य भारत की आत्मा से नहीं किया है। 'सरकार चाहे जिस दल की हो भारत अपना है' यह चेतना सामूहिक रूप से न हमारे बड़े-बूढ़ों में आयी है और न विद्यार्थियों में। हम समष्टि की अपेक्षा व्यष्टि को अधिक महत्त्व देते हैं। भारत के गौरव को हम अपना गौरव नहीं समझते हैं। 'मानो हि महतां धनम्' की बात को हम भूल गये हैं और याद भी है तो वैयक्तिक मान के संबंध में।

हमारे कवियों ने अभावों की ओर अधिक ध्यान दिया है। स्वतन्त्र भारत के विस्तारोन्मुख क्षितिज को देखकर जो हृदय की मुक्तावस्था आनी चाहिए वह उनमें बहुत कम मात्रा में आई है। जातीय चेतना जो स्वराज्य से पहले थी उसमें वृद्धि होने की अपेक्षा मूल में भी ह्रास दिखाई देता है। स्वतन्त्रता का पर्व आता है और चला जाता है, एक रस्म-सी अदा हो जाती है। हमने अपने वैय-क्तिक अभावों के कारण उसका मूल्य नहीं पहचाना है। हम उसका मूल्य स्वार्थसिद्धि की भाषा में आंकते हैं। कुछ लोग सामूहिक कष्टों से भी अवश्य दुःखी हैं। ऐसी बात नहीं कि सब लोग वैयक्तिक

अभावों से ही पीड़ित हों, किन्तु अन्धकार के साथ कुछ शुभ्र और उज्ज्वल रेखाएं भी हैं। उनकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता है। बुराई की ओर हमारा ध्यान अधिक दौड़ता है। नयी योजनाएं चरितार्थ हो रही हैं। उनमें चाहे अपव्यय हुआ हो, किन्तु सब धोखा ही धोखा नहीं। ऐसा कहना हजारों लोगों के परिश्रम और बलिदान पर पानी फेर देना होगा। भाखरा-नांगल बांध केवल मायाजाल नहीं है। अन्न के अभाव के लिए सरकार की खूब बुराई हुई, किन्तु उसके दूर होने की स्थिति निकट आने पर किसी ने साधुवाद के दो शब्द भी नहीं कहे। क्या यह सब सब्जबाग है? तेनसिंह द्वारा एवरेस्ट विजय पर हममें एवं विद्यार्थियों में वह उल्लास नहीं आया जो आना चाहिए और न साहसी कार्यों के लिए उससे इतनी प्रेरणा मिली जितनी कि मिलनी चाहिए थी। हमारे कवि भी कुछ उदासीन से रहे। विदेशी राजनीति की गति-विधि में जो भारत का हाथ है उस पर हम गर्व नहीं करते। हिन्द-चीन की विराम-संधि के निरीक्षण-आयोग में भारत को जो अध्यक्षता मिली उससे हम वीतरागी वेदान्तियों की भांति अविचलित हैं; हर्षोल्लास की रेखा हमारे मुख पर नहीं। विदेशी बस्तियों पर वहां के निवासियों के अतिरिक्त उतना जन-क्षोभ नहीं प्रकट हुआ जितना होना चाहिए। शिक्षा और विज्ञान के क्षेत्र में नये अनुसंधान हो रहे हैं। अणु-शक्ति से भी हम लाभ उठाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इन नवीन सम्भावनाओं से हमारे युवकों का मन प्रभावित नहीं होता।

देश में अभाव है, असमानताएं भी हैं, उनको भुलाया नहीं जा सकता, किन्तु हमको यह भी नहीं भूलना चाहिए कि दुनियां इतनी सम्पन्न नहीं है कि सबके अभावों की समान रूप से पूर्ति हो सके। बेकारी अवश्य है, किन्तु बेकारी गोस्वामी तुलसीदासजी के

समय में भी थी——

खेती न किसान को भिखारी को न भीख,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका-विहीन लोग सीद्यमान सोचबस,
कहैं एक एकन सों 'कहां जाइ, का करी ?'

किन्तु यह हमारे लिए कोई सन्तोष की बात नहीं और न यह हमारी अकर्मण्यता के लिए बहाना बनना चाहिए। इन अभावों के होते हुए भी जहां हम होली-दिवाली और ईद मना सकते हैं वहां इस राजनीतिक पर्व को भी हर्षोल्लास से मना सकते हैं।

राष्ट्रीय पर्व का मनाना कोरी भावुकता नहीं है। इस भावुकता का मूल्य है। भावुकता में संक्रामकता होती है; संक्रामकता से वस्तु जनता की हो जाती है और फिर वह शक्ति का संचार करती है। विचार हमारी दिशा का निर्देशन कर सकते हैं, किन्तु कार्य-सम्पादन की प्रबल प्रेरणा और शक्ति भावों में ही निहित रहती है। भाव भी जब तक वैयक्तिक रहते हैं तब तक 'एक चना भाड़ नहीं फोड़ सकता' की बात सार्थक करते हैं। 'एकला चलो रे' की बात बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, कबीर, नानक, रवीन्द्र और गांधी के लिए ठीक हो सकती है। वे अकेले चल पड़ते हैं और लोग उनके पीछे चलते हैं, किन्तु बिना पीछे चलने वालों के उनकी वाणी भी बल नहीं पकड़ती। इस जन-रस और जन-शक्ति को उत्पन्न करने के लिए इन राष्ट्रीय पर्वों का मनाना आवश्यक है। इनसे हमारे कार्यों में एक-ध्येयता आती है और वे गति पकड़ते हैं। हमारी बहुत-सी योजनाओं में जो बल नहीं आने पाता वह इसी जातीय गर्व की भावना के अभाव के कारण है। भ्रष्टाचार पर हम विजय नहीं पा सके हैं, इसके मूल में भी जातीय गर्व का अभाव है। हमारे बहुत से उच्चाधिकारी भी राज-मद में उन्मत्त

हो गये हैं, यह जातीय गर्व के अभाव के कारण ही है। 'प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं' की लोकोक्ति उन्हीं के लिए है जिनमें जातीय गौरव और देशहित की भावना की कमी है। जातीय गर्व का अभाव वैयक्तिकता का पोषण करता है। ऐसे समय में जब विदेशी बस्तियों की उन्मुक्ति का प्रश्न है, अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व हमारे कंधों पर आ गया है, देश के डूबने और बचाने का सवाल है, जब चारों ओर से आलोचना के तीक्ष्ण वाण चल रहे हैं, इस जातीय गर्व की विशेष आवश्यकता है। कोरा जातीय गर्व काम न देगा। उसके भीतर सच्ची भावना होनी चाहिए जिससे हम उसको सार्थक करने के लिए अपना चरित्र ढाल सकें। राष्ट्रीय चरित्र के उत्थान के बिना भ्रष्टाचार और अत्याचार, दम्भ और धोखेबाजी दूर न होगी।

इस जातीय गर्व के साथ हमारे कंधों पर तदनुरूप चरित्र-निर्माण का बोझ तो आ ही जाता है, किन्तु उसी से हम पर अपने को ज्ञान-सम्पन्न और शक्ति-सम्पन्न बनाने का भी उत्तरदायित्व आ जाता है। देश की गतिविधि से हम अनभिज्ञ रहते हैं। समस्याओं के अध्ययन में विशेषकर विद्यार्थियों को कोरी भावुकता से काम न लेना चाहिए। उनको निर्भय तर्क द्वारा पक्ष-विपक्ष की युक्तियों की छानबीन द्वारा पूर्ण निश्चय कर निर्भीकतापूर्वक अपना मत प्रकट करना चाहिए।

हमको चाहिए कि हम अपने हृदय को दूसरों की सफलता पर गर्व से स्पन्दित और दूसरों की विफलता पर सहानुभूति से आन्दोलित करने में सहायक हों। राष्ट्र के किसी भी क्षेत्र में किसी व्यक्ति की सफलता को अपनी सफलता और किसी व्यक्ति की विफलता को अपनी विफलता समझें। गीता के कर्मयोग में बतलाया गया है कि जो कुछ हम कर्म करें उसको कृष्णार्पणमस्तु की

भावना से करें। हमको अपने काम देश के गौरवहिताय करने चाहिए। हमें सोचना चाहिएं कि हमारा अच्छा काम देश के गौरव को बढ़ायेगा और हमारा बुरा काम देश का मस्तक नीचा करेगा। हमको अपने रहन-सहन के भीतरी और बाहरी दोनों स्तरों को ऊंचा करना चाहिए। सरकार पंचवर्षीय योजना में देश के बाहरी रहन-सहन को ऊंचा करने का उद्योग कर रही है। चारित्रिक स्तर को ऊंचा करने की भी उतनी ही आवश्यकता है।

हम देश को सम्पन्न और शक्तिशाली बनाने में योग दें। अपने लड़के-बच्चों को ऐसे उद्योग-धंधे सिखाएं जिनसे नवनिर्माण में सहायता पहुंचे। उनके जीविकोपार्जन में राष्ट्रीय दृष्टिकोण रखें। हम अपने रहन-सहन को ही ऊंचा न करें, बल्कि दूसरों के रहन-सहन के ऊंचे होने में भी सहायक बनें। दूसरों के साथ प्रेम-व्यवहार से उनके हीनता-भाव को दूर करें। यदि हम सरकारी अफसर हैं तो हम शक्ति के आतंक से नहीं वरन् प्रेम और सेवा भाव से जनता को आकर्षित करें। सच्ची सेवा चुनाव के अवसरों पर वोट-भिक्षा के परिश्रम और अपव्यय को भी बचाती है। हम अपने रहन-सहन तथा अपने घरों और नगरों को सुन्दर बनाकर भारत को गर्व की वस्तु बनाएं।

हम आलोचना करने से पूर्व समस्याओं का अध्ययन करने का प्रयत्न करें और उनके हल करने में भी योग दें। देश की समस्याओं को अपनी समस्या समझें और उसके लिए अपना उत्तरदायित्व अनुभव करें।

जातीय गर्व के बाधक कुछ कारण तो जनता पर आश्रित हैं और कुछ सरकार पर। प्रायः वैयक्तिकता का आधिक्य, प्रान्तीय भावना, साम्प्रदायिकता और दलबन्दी जातीय गर्व में बाधक होते हैं। लोग देश और जाति की अपेक्षा सम्प्रदाय और प्रान्त को अधिक

महत्त्व देते हैं। यह संकुचित भावना है। राष्ट्र सबका है। सब प्रांतों, सब दलों और सब संप्रदायों को एक नियमित सीमा तक पूर्ण स्वतन्त्रता है, किन्तु इस स्वतन्त्रता की आड़ में राष्ट्र के गौरव की उपेक्षा करना उसका दुरुपयोग है। राष्ट्र अंगी है; व्यक्ति, दल, प्रान्त और सम्प्रदाय अंग हैं। अंग का हित अंगी की रक्षा में है। व्यक्ति, दल, प्रान्त और सम्प्रदाय की रक्षा राष्ट्र की रक्षा पर निर्भर है। इसलिए राष्ट्र की उपेक्षा अनुचित और घातक है।

जहां जनता का इतना कर्तव्य है वहां सरकार का भी इतना कर्त्तव्य है कि वह असन्तोष के कारणों का विधिवत् अध्ययन करे और सत्य को ग्रहण करे। सरकारी अधिकारियों में सच्ची सेवा भावना जागरित की जाय जिससे वे वास्तव में जनता के सेवक कहे जाने के अधिकारी बनें।

सरकार दूसरे दलों से भी इतनी उदारता का व्यवहार करे कि उनको भी यह अनुभव होने दे कि सरकार उनकी है। उनकी आलोचना से लाभ उठाये और उनके परामर्श को उचित मान दे। राज्यों की समृद्धि और स्वतन्त्रता का सरकार उतना ही ध्यान रखे जितना कि केन्द्र की उन्नति का।

जातीय गर्व की रक्षा का भार सरकार और जनता दोनों के ऊपर है। दोनों के सहयोग में ही जाति का कल्याण है। जहां जनता का कर्त्तव्य है कि वह सरकार और देश पर गर्व और राष्ट्रीय पर्वों में हर्षोल्लास प्रकट करे वहां सरकार का भी कर्त्तव्य है कि सच्चे अर्थ में जनता की सरकार और उसके गर्व की वस्तु बनने की अधिकारिणी बने। स्वस्थ लोकमत की वह उपेक्षा न करे, और जनसम्पर्क के प्रति अधिक से अधिक उत्तरदायी बने। सरकार की मान-मर्यादा और प्रतिष्ठा की रक्षा सरकार के अधिकारियों के हाथ में है। वे स्वार्थवश ऐसा काम न करें जिससे जातीय गर्व

को हानि पहुंचे। वे सरकार की प्रतिष्ठा के लिए अपनी सुख-सुविधाओं और मान प्रतिष्ठा का त्याग कर समाज के सच्चे सेवक बनें। वे राजकीय सत्ता के अधिकार से शासन करें जिसमें शासित को शासन का भार न अखरे और उनके बीच की खाई कम हो।

: ४ :

मन की दृढ़ता

श्री बालकृष्ण भट्ट

अनेक मानसिक शक्तियों में दृढ़ता भी मन का एक उत्तम धर्म और मनुष्य के प्रशंसनीय गुणों में है। परन्तु इन मानसिक शक्तियों पर कुछ लेख लिखने या उनके संबंध में कुछ कथोपकथन करने के पहले यह प्रश्न उठता है कि इस कथोपकथन का उद्देश्य क्या है? यदि यह माना जाय कि कोई-न-कोई मानसिक गुण लोगों में रहता ही है और जो लोग उन गुणों का पूरा, आनन्द और लाभ उठा रहे हैं वे उठाते ही होंगे तब आप अपने इस लेख से और क्या अधिक लाभ पहुंचा सकते हैं। किन्तु इसके विपरीत यह मान लेने में कि जितने अच्छे गुण हैं उनके उद्दीपित करने का यही उत्तम उपाय है कि हम उन गुणों की यथोचित मीमांसा करके उनसे जो-जो लाभ हैं उन्हें प्रकट कर दिखावें तब अलबत्ता लेख आदि की आवश्यकता हो सकती है। और कुछ नहीं तो इतना ही सही कि जो लोग उन गुणों के आधार हैं उनके साथ सहानुभूति प्रकट करने से हम ऐसे लोगों को किंचित् भी हर्ष पहुंचा सकेंगे तो हमारे लेख का कुछ कृत्य हुआ और इसी को ध्यान में रखकर हम आगे बढ़ते हैं।

गधा पीटकर घोड़ा नहीं हो सकता। जिनमें किसी गुण का लेश नहीं है वे किसी तरह गुणशाली न हो सकेंगे, लोगों के इस कहने को हम किसी-किसी अंश में सत्य मानते हैं। अधिक विद्या की वृद्धि, स्थान-स्थान में पुस्तकालय, क्लब और सभाएं तथा अनेक उपकारी विषयों पर वक्तृता, समाचार-पत्र तथा विविध विद्या-

विषयक नित्य नये मासिक पत्रों का विशेष प्रचार यही सब उपाय हैं, जिनसे आप लोगों को चालचलन में शुद्ध और सुचरित्र तथा मानसिक शक्तियों में आगे को बढ़े हुए कर सकते हैं। जब ये उपाय आपका प्रयोजन सिद्ध करने को किसी तरह कारगर नहीं हुए और आपके लोग भी वे ही हैं जिन पर इसका कुछ असर नहीं पहुंच सका तो यह आशा ही करना व्यर्थ है कि यत्न और उपाय से जगत् का वह लाभ होगा जो आज तक नहीं हुआ। गधा पीट कर घोड़ा न हो सकेगा ऐसा मानने वालों के मत का खंडन करना हमारा तात्पर्य नहीं है, किन्तु इसके साथ ही हम यह भी मानते हैं कि बुद्धि का काम मनुष्य को सत्कर्म-सम्बन्धी शिक्षा देने से यही मालूम होता है कि यद्यपि जो बात प्रबल संस्कार के कारण या किसी दूसरे-दूसरे हेतु से दैव ही ने किसी को नहीं दी वह बात हम उसमें न उपजा सकें, तो इतना तो करें कि सदुपदेश की परिणत दशा पर उसकी आँख तो खोल दें अर्थात् उसकी अपेक्षा दस भले लोग और दस बुरे लोगों के साथ उसके चाल-चलन का मिलान करके उसकी भली या बुरी चित्त-वृत्ति का एक अन्दाजा तो उसे दे दें। उपरान्त उसे स्वयं अधिकार है चाहे वह अपनी दशा को आगे बढ़ावे अथवा अधः-पतन से अपने को नीचे गिराता ही जाय, क्योंकि अब यह कहने वाला तो कोई न रहेगा कि सुधारने के लिए किसी ने कुछ यत्न नहीं किया।

अब तो बुद्धि रूपी लैम्प के द्वारा उसने अपनी पहली निविड़ अन्धकार-पूरित अथवा प्रकाश के संस्कार से संस्कृत पिछली दशाओं को देख लिया है, तो इस बात का ज्ञान तो उसे अवश्य ही हो गया है कि हम कहाँ हैं और वे कौन और कैसे लोग हैं जिनसे हम कई दरजे अच्छे हैं, अथवा वे कौन हैं जिनके समान हम चेष्टा करने से हो सकते हैं। और यह सब कोई छोटी बात नहीं है, क्योंकि

यदि हमसे कोई पूछे कि प्रशंसा का मूल आप किसे कहेंगे तो हम यही उत्तर देंगे कि प्रशंसनीय केवल वे ही हैं जिन्होंने दीर्घ काल के अभ्यास और प्रयत्न से कुछ प्राप्त कर लिया है। यदि दैव की देन उस पर हुई और सहज ही में कोई अच्छी बात उसे प्राप्त हो गई तो निस्संदेह यह तो अवश्य ही कहेंगे कि वह गुणी है, पर यह न कहेंगे कि वह मनुष्य प्रशंसनीय है, क्योंकि जैसा हमने अभी कहा प्रशंसनीय होने की योग्यता हम केवल असकृत चेष्टा और यत्नों ही पर निर्भर मानते हैं। ईश्वर की देन से स्वभावतः प्राप्त गुणों की अपेक्षा चाहे असकृत चेष्टा और अभ्यास द्वारा प्राप्त गुणों में वैसा तीखापन न हो, पर विचार की गंभीरता इस प्रकार के गुण में अवश्य विशेष होगी; और यह लाभ किससे कम है? इस बात के स्पष्ट करने को हम कवित्व शक्ति का उदाहरण देते हैं। कवियों को कविता करने की शक्ति ईश्वर-प्रदत्त होती है सही, परन्तु निरन्तर अभ्यास से जो कवित्व शक्ति सम्पादित की जाती है वह भी कुछ कम नहीं, वरन् विचार की गंभीरता ऐसे ही काव्यों में विशेष पायी जायगी, क्योंकि पहली तरह के काव्य में कवि के हृदय से अपने-आप जो निकलेगा वही रहेगा। पर दूसरे प्रकार के काव्य में खूब सोच-समझ और गढ़-गढ़ कर पद रखे जायँगे। कहाँ तक तब वे पद सारगर्भित न होंगे। मम्मट भट्ट की कारिका से भी यह बात सम्यक् व्युत्पादित होती है :

"शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र-काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥"

दंडी का भी यही मत है :

"न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवम् करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥
तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।

कुशे कवित्वेपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते ॥"

कहने का प्रयोजन यह है कि नाना प्रकार के गुणों में मनुष्यों की असमता में विधाता का विषम भाव ही कारण है, परन्तु इसके साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि विधाता की विषमता से जो यह भाँति-भाँति की त्रुटि संसार में दीख पड़ती है उसको पूरा करने वाला सर्वोत्तम प्रधान कारक अभ्यास ही है :

"करत-करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान ।"

लड़के शिक्षा कैसे ग्रहण करते हैं—इस बात को जिसने कभी सोचा है वह हमारी बात अवश्य मानेगा। बालक जब छोटे-से-छोटे दरजे में रहते हैं तभी से अपनी विशेष रुचि किसी एक मुख्य विषय पर प्रकट करने लगते हैं। किसी विषय में उनकी बुद्धि अधिक धंसती है, किसी बात के सीखने को वे अलसाते और जान छिपाते हैं। कोई-कोई बातों में वह अपनी रुचि आदि ही से प्रगट करता है। कोई-कोई बात में शीघ्र उसकी बुद्धि पुष्ट पड़ जाती है। कुछ बातों में बड़े यत्न के उपरान्त भी वह कमजोर बना रहता है। किसी को काव्य में बड़ी रुचि है तो गणित के सीखने से दूर भागता है। किसी को दर्शनों ही के अभ्यास में आनन्द मिलता है, काव्य का रस उसके नीरस चित्त में स्थान ही नहीं पाता। किसी की तबियत शिल्प और कारीगरी की ओर अधिक झुकती है। किसी की प्रखर बुद्धि विज्ञान के ज्ञान में अतिशय दौड़ती है। क्यों ऐसा होता है ? इसे यदि पूर्व संस्कार या ईश्वर की देन मानिये तो बहुत कम लोगों का इसमें मतभेद होगा। तब इसके क्या माने ? आप कह सकते हैं कि इस बालक को आरम्भ ही से अच्छी शिक्षा दी गयी है अर्थात् इसके यही माने हैं कि जिस बात की ओर इसका झुकाव होता था वह विषय तो उसमें खराद पर चढ़े नगीने की भाँति जगमगा रहे थे। जिस बात की ओर से वह आलस्य-भाव

धारण कर अरुचि प्रगट करता था, वह कमी भी उस भली भाँति संभाल दी गई। अन्त में परिणाम इस बात का यह हुआ कि उस बालक की शिक्षा के संबंध में आप कह सकते हैं कि इसे अच्छी शिक्षा या पूर्ण शिक्षा दी गयी है। अब बतलाइए इस अच्छे या पूर्ण के क्या माने हैं—केवल यही कि यद्यपि बहुत बातों में स्वभाव ही से वह बालक अच्छा रहा हो, परन्तु उत्तम शिक्षा के प्रभाव से उसके निर्बल अंश भी दूर कर दिये गये और सब विषय में पूर्ण अथवा 'कालाक्षरी' वाक्य उसके लिए उपयुक्त होता है।

यह हमने केवल एक दृष्टांत के ढंग पर दिखलाया, जो बात बालकों में देखते हैं। कोई ऐसी वजह नहीं कि जवानों में वह बात न पायी जाय अर्थात् ईश्वर की देन (नेचुरल गिफ़्ट) से जो बात नहीं आयी उसे भी अभ्यास (कल्चर) के द्वारा बढ़ाना। भेद इतना ही है कि बालकों को इस बात की आवश्यकता है कि कोई दूसरा अपने सहारे से उन्हें ले चले। पर जवानों को भला कौन सहारा देगा, यदि अपनी मदद वे आप ही न करें। और इसी का नाम हम मन की दृढ़ता रखेंगे। अब देखना चाहिए इस मन की दृढ़ता का असर उसी आदमी के खयाल पर किस तरह होता है।

जो लोग यह मानते हैं कि कुछ लोगों का किसी खास बात की तरफ झुकाव इत्तिफाक से है। ऐसी ही बात आ पड़ी है कि वह उस बात को चाहने लगता है या अच्छी तरह उस बात को समझता है। इस सब का कारण बिल्कुल इत्तिफाक ही है। हमारी जान में ऐसा मानने वालों की बड़ी भूल है। आदमी की पसन्द, तबियत, मिजाज, खयालात, रुचि और अरुचि इसमें छोटी-से-छोटी या बड़ी-से-बड़ी बातों पर इत्तिफाक का उतना ही असर है जितना इत्तिफाक से पेड़ में कानी-खोतरी पत्तियाँ या फूल-फल लग सकते हैं। इन्हीं बातों पर सोचने से इस प्रश्न का उत्तर मिलता है कि कैसे

मानसिक दृढ़ता रहने से किसी के खयालात में वह जोर आता है जिसे देख या सुनकर लोग चमत्कृत होते हैं। जब यह माना गया कि आदमी का मन उसके खयालात के साथ ऐसा नथा है जैसा वृक्ष अपने एक-एक रगो-रेशे से नथा हुआ है तो यह सिद्ध हुआ कि किसी मनुष्य के खयालात उसके मन और जबान पर वैसे ही हरे-भरे मालूम होंगे जैसे अपने स्थान में जमा हुआ पेड़ हरा-भरा मालूम होता है। क्या यह कभी सम्भव है कि पेड़ को आप उखाड़ डालें? यह भी सम्भव नहीं है कि किसी के अनोखे खयालात उसके मन को छोड़ कर कहीं और ठौर तरोताजगी को पा सकें और इसी को हम मानसिक दृढ़ता कहेंगे, जिसका अर्थ अनोखापन भी कहा जाय तो अनुचित नहीं है।

यहाँ तक हमने इस मानसिक दृढ़ता का एक लक्षण लिखा। इस दृढ़ता को हम हठ न कहेंगे। निस्सन्देह हठ की मज़बूती इसमें है, पर एक तरह का अनोखापन जो इस दृढ़ता में पाया जाता है इससे हठ या दुराग्रह के दोष का सम्पर्क भी इससे दूर हटा हुआ है। क्योंकि हठ का शब्द सुनने वाला किसी के बारे में तभी प्रयोग करता है जब उसकी मजबूती का तो वह कायल है पर बात उसकी अप्रिय और अग्राह्य लगती है, जिनको आप मानसिक दृढ़ता के साथ लगा ही नहीं सकते, क्योंकि यदि सुनने वालों को ग्राह्य-अग्राह्य, प्रिय-अप्रिय तय करने की फुरसत मिली तो बोलने वाले की मानसिक शक्ति की प्रशंसा में हम 'दृढ़' का प्रयोग करते होंगे। नहीं, मानसिक दृढ़ता का मुख्य लक्षण या गुण यह है कि वक्ता सुनने वाले का मन अपनी मुट्ठी में कर ले।

इस दृढ़ मन का दूसरे के ऊपर क्या और कैसे असर होता है, इसे हमने प्रगट कर दिखलाया। अब पाठकजन इससे यह न समझ लें कि केवल अति दृढ़ मन वालों ही का असर दूसरे पर होता है,

यह हमारा तात्पर्य नहीं है। पर यह एक साधारण नियम है कि जब कभी दो चित्त आपस में टक्कर खायेंगे तो एक-दूसरे पर कुछ-न-कुछ असर हो हीगा; इसी असर को भली या बुरी सोहबत का असर कहते हैं। सोहबत का असर जरूर होता है; इसको रोकने की सामर्थ्य किसी की नहीं है। यह असम्भव है कि एक चित्त अपना असर दूसरे पर पैदा न करे या वह दूसरा भी उस असर को अपने ऊपर न आने दे; और यह एक ऐसी अनदेखी बात है जिसका रोकना या उसे कुछ अदल-बदलकर ग्रहण करना दोनों की सामर्थ्य के बाहर है। जब यह बात है तो दृढ़ मन वाले अपनी ऊंची समझ और ऊंचे खयालात से कमजोर और दुर्बल चित्त वालों को ऐसा बेकाबू कर डालेंगे जैसा बड़े-से-बड़े नशे का असर किसी को बेकाबू कर देता है। इसलिए दुर्बल चित्त वाले का दृढ़ मन वाले के साथ सम्पर्क कभी उपकारी नहीं है। इस चुपचाप असर पैदा करने की शक्ति को हम केवल आदमियों ही में नहीं वरन् जड़ पदार्थों में भी पाते हैं। काठ पत्थर की संगति करके चिर काल के उपरान्त पत्थर हो जाता है, अंगरेजी में जिसे फासेल कहते हैं। दो तरह के पत्थर या दो तरह की खान या दो तरह के वृक्ष, जो आसपास होते हैं, उनका भी बहुत कुछ असर एक का दूसरे पर होता है। हमने यह भी सुना है कि दो खानें, जो आसपास होती हैं, उनमें जो खान बड़ी या तीव्र द्रव्य की खान थी उसने छोटे और हल्के द्रव्य वाली खान को ऐसा दबाया कि कुछ दिन के उपरान्त दोनों एक में मिल गयीं और दोनों एक ही द्रव्य की खानें हो गयीं।

अब आप निश्चय कर सकते हैं कि एक मन का असर दूसरे पर कितना होता है। खासकर उनमें, जब दोनों में एक अति दृढ़ और दूसरा दुर्बल मन है। अतएव दृढ़ मन यद्यपि उत्तम गुण है पर दूसरों पर उसका असर इतना गुणकारी नहीं मालूम होता और

इस दृढ़ मन के साथ सहानुभूति भी हो अर्थात् हर तरह के भले-बुरे, ऊंचे-नीचे ज्ञानी-अज्ञानी सबों के मन में प्रवेश करने की शक्ति भी हो तो दृढ़ मन मधुकर हो प्रत्येक मन का मधु निकाल-निकाल कर लाभ उठाने की शक्ति बढ़ाता ही जायगा और सत्य क्या वस्तु है इसकी पहचान में समर्थ होगा।

: ५ :

नागरिकता का मानदंड

डा० कंचनलता सब्बरवाल

प्राचीनकाल में नागरिकता का अर्थ व्यक्ति का राज्य से अधिकार प्राप्त करना तथा उसके प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करना मात्र ही था। आधुनिक युग के विचारक नागरिकता का कुछ अधिक उदार एवं व्यापक अर्थ समझते हैं। एम० पी० फौलेट के मतानुसार प्रत्येक क्षण हम जो भी कुछ कार्य करते हैं उसे नागरिकता के ही अन्तर्गत मान कर समझा जा सकता है। यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाये तो हमें इस कथन में सत्यता जान पड़ती है। प्रत्येक व्यक्ति राज्य की ही इकाई है और राज्य अपनी इन सब इकाइयों को लेकर ही खड़ा होता है। अतः राज्य को व्यक्ति प्रत्येक क्षण अपने जीवन, काम-काज आदि में किसी-न-किसी रूप में अभिव्यक्ति देता रहता है। केवल कर्तव्यों का पालन और अधिकारों की प्राप्ति ही नागरिकता नहीं है वरन् राज्य के प्रति सम्मान, स्नेह, लगाव एवं अपनत्व की भावना रखे बिना तो व्यक्ति उसके प्रति अपने कर्तव्यों का भी ठीक ढंग से पालन नहीं कर पायेगा। अतः किसी भी देश का वासी अथवा किसी राज्य का नागरिक उसके प्रति अपने कर्तव्यों का पालन तो करता ही है, उससे अधिकारों की प्राप्ति भी करता है, किन्तु इनके अतिरिक्त राज्य के साथ उसका अपनत्व भी होता है, राज्य की दृष्टि से व्यक्तियों के अन्तःसम्बन्धों का समन्वय करता है। परस्पर व्यक्तियों के सामाजिक अन्तःसम्बन्धों का समीकरण उस प्रकार से

जीवन यापन करके ही किया जा सकता है। अतः समाज एवं राज्य में व्यक्तियों के [illegible] सम्बन्धों के समन्वय करने और उसी के अनुकूल जीवन यापन करने को नागरिकता कह सकते हैं। इस दृष्टि से नागरिक शास्त्र इस प्रकार के जीवन-यापन-सम्बन्धी ज्ञान को कहा जा सकता है। नागरिकता ही प्रत्येक नागरिक को अनेकों व्यक्तियों की भीड़ में खोने नहीं देती वरन् उसके महत्त्व को भी सम्पूर्ण कर एक अंग होने के संबंध से उभार ही देती है। सब व्यक्तियों के समाज की उन्नति के लिए किये गये सम्मिलित एवं निजी योगदान को ही नागरिकता कह सकते हैं।

प्रत्येक मानव एक व्यक्ति ही तो है किन्तु उसका सम्पूर्ण जीवन सामाजिक वातावरण को लेकर बनता है। वह अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में कुछ न कुछ ऐसा कार्य करता ही रहता है जिसका कि सम्बन्ध उसके सामाजिक जीवन तथा उस समाज एवं राज्य से होता है, जिससे कि वह संबंधित है। इस प्रकार के कार्य उसके सामाजिक जीवन को अधिकाधिक उन्नत एवं सुखद बनाते जाते हैं। समाज अथवा राज्य के सब सदस्य अपने निजी एवं सम्मिलित प्रयत्नों से, काम-काज से, कार-व्यापार से सामाजिक सामूहिक जीवन को सुखद एवं उन्नत बनाते हैं। व्यक्ति की समाज अथवा राज्य के प्रति की गयी ये सेवाएं निश्चित, नियमित, गम्भीर और सुसंगठित भी हो सकती हैं। व्यक्ति की इसी प्रकार की समूह के प्रति की गयी वैयक्तिक सेवाओं को नागरिकता में सम्मिलित किया जा सकता है।

नागरिक होने के लिए किसी भी व्यक्ति का किसी राज्य का सदस्य होना आवश्यक है। ऐसा होने पर उसे यह स्वाभाविक ही है कि राज्य की ओर से कुछ राजनीतिक एवं सामाजिक अधिकार प्राप्त हों और उनके उपयोग की सुविधाएं भी प्राप्त हों। नागरिक

के लिए यह भी आवश्यक है कि वह अपने आप को राज्य का ही एक अंग समझे तथा उसके प्रति अपनत्व की भावना रखे।

नागरिकता से तात्पर्य है व्यक्ति की ओर से राज्य के प्रति भक्ति-भावना, राज्य की सदस्यता की प्राप्ति और राज्य की ओर से व्यक्ति को सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों के उपयोग की सुविधा प्राप्त होना। व्यक्ति की ओर से राज्य के प्रति आस्था भक्ति एवं अपनत्व की भावना और राज्य की ओर से व्यक्ति को विभिन्न राजनीतिक एवं सामाजिक अधिकारों का प्राप्त होना मात्र ही किसी व्यक्ति को किसी राज्य का नागरिक नहीं बना देता है। यद्यपि विधान की दृष्टि से इनका होना आवश्यक है किन्तु इनके अतिरिक्त व्यावहारिक दृष्टि से व्यक्ति और राज्य दोनों को ही इनका ठीक-ठीक उपयोग करने का ज्ञान भी होना चाहिए। यद्यपि यह स्वाभाविक ही है कि जिस राज्य में किसी व्यक्ति का जन्म हो उसकी आस्था, भक्ति एवं अपनापन उस राज्य के प्रति हो तथा वह राज्य उसे साधारणतया नागरिक के समस्त अधिकार आदि दे अर्थात् उसे जन्म से ही नागरिकता प्राप्त हो किन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी व्यक्ति का जन्म किसी एक राज्य में हुआ हो और उसे जीवन पर्यन्त किसी दूसरे ही राज्य में बसना पड़े। ऐसी अवस्था में वह उस राज्य का नागरिक बनना चाहेगा जहां कि उसे यावज्जीवन बसना है। उसके विधिविधान के अनुसार उससे नागरिकता की सनद प्राप्त करना होगा। प्रत्येक राज्य की 'देशीयकरण' की भिन्न-भिन्न शर्तें होती हैं। उन शर्तों का पालन करके ही कोई अन्य देशी व्यक्ति उस राज्य के अधिकारों के निकट यह निवेदन कर सकता है कि उसे उस राज्य की नागरिकता की सनद दे दी जाए अर्थात् उस राज्य का नागरिक स्वीकार कर लिया जाए।

प्रत्येक व्यक्ति नागरिक तो होता ही है किन्तु सब लोग आदर्श नागरिक नहीं होते हैं। समाज की शांति और सुव्यवस्था उसी अवस्था में बनी रह सकती है जब कि सब व्यक्ति आदर्श नागरिक हों। वस्तुतः नागरिक के लिए नागरिक शास्त्र की शिक्षा की आवश्यकता इसलिए नहीं है कि वह यह जान ले कि उसे क्या सोचना चाहिए वरन् केवल इसलिए है कि वह सोचना, विचार करना सीख ले। केवल यही नहीं, विचार करके जो उचित हो उसे ही व्यवहार में लाए। जिन देशों में नागरिक शास्त्र की शिक्षा विद्यालयों में दी जाती है वहां भी राज्य को बालकों को अपनी नीति की शिक्षा नहीं देना चाहिए वरन् केवल इतनी और ऐसी ही शिक्षा देना चाहिए जिससे कि देश के भावी नागरिक गम्भीर विषयों पर मनन करना सीख लें। नागरिकता व्यक्ति के जीवन का सर्वांग नहीं है वह तो केवल एक अंग है। व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन नागरिक मात्र होना ही नहीं है अतः नागरिकता की शिक्षा उसके व्यक्तित्व के एक अंश की ही पूर्ति करने वाली होनी चाहिए। इस प्रकार की शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति को आदर्श नागरिक बनाना ही होना चाहिए और आदर्श नागरिक वह व्यक्ति हो सकता है जिसमें निम्नलिखित गुण हों।

मानव व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धा की भावना का होना आदर्श नागरिक के लिए आवश्यक है। प्रत्येक मानव अपने-आप में ही एक ध्येय, एक लक्ष्य, एक व्यक्ति होना चाहिए। यद्यपि सदा सर्वदा मानव अथवा मानवों को कभी-कभी माध्यम, साधन रूप में भी प्रयोग में लाया गया है किन्तु काल विशेष को छोड़ कर साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति को अन्य सब व्यक्तियों के समान आदर, सम्मान मिलना चाहिए और प्रत्येक व्यक्ति को राज्य के समस्त सदस्यों को आदर की दृष्टि से देखना चाहिए तथा किसी भी

मानव व्यक्ति का उपयोग केवल साधन के रूप में नहीं करना चाहिए। आदर्श नागरिक को अपनी योग्यता को समझना चाहिए तथा अन्य व्यक्तियों की योग्यता को भी समझना चाहिए। ऐसा होने पर राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यता के अनुसार कार्य-प्राप्ति की सुविधा रहेगी जो कि राज्य की सुव्यवस्था के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

आदर्श नागरिक में संयम यथेष्ट मात्रा में होता है तथा वह राज्य को एक परिवार की भांति देखता है जहां कि एक व्यक्ति को कभी-कभी दूसरों के हित के लिए अपने स्वार्थों का त्याग करना पड़ता है। सामाजिकता की भावना का मुख्य आधार ही स्वार्थ त्याग है। अतः आदर्श नागरिक राज्य में भी ठीक उसी प्रकार व्यवहार करता है जिस प्रकार कि वह परिवार में करता है। जहां कि व्यक्ति केवल अपने ही स्वार्थ की बात सोचता है वहां उसकी सामाजिक भावना विकसित नहीं हो पायी है ऐसा मानना चाहिए अर्थात् उसकी शिक्षा-दीक्षा में कहीं कुछ त्रुटि रह गई है यह मान लेना चाहिए।

राज्य का सदस्य केवल दूसरों के हितों के लिए ही उत्तरदायी नहीं होता है वरन वह दूसरों का हित साधन भी तभी कर सकता है जब कि वह स्वयं स्वस्थ, सुशिक्षित, उदार, समझदार एवं दूसरों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण विचार रखने वाला हो। अतः आदर्श नागरिक का चरित्रवान्, संयमी, सुशिक्षित, उदार एवं कुशल कार्य-कर्ता होना आवश्यक है। ऐसा होने पर वह कर्तव्य-परायण हो सकेगा। व्यक्ति के विभिन्न कर्तव्य होते हैं। एक कर्तव्य का दूसरे कर्तव्य पर किस आधार पर बलिदान किया जाए, यह जानना मानव के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। अतः उसमें यह योग्यता होनी चाहिए कि वह अपने विभिन्न कर्तव्यों में सन्तुलन

बनाये रखकर उनका उचित रीति से पालन कर सके। तथा जहां विभिन्न कर्तव्यों में विरोध होता जान पड़े वहां अपना कर्तव्य ठीक ढंग से निश्चित कर सके।

आदर्श मानव ही आदर्श नागरिक बन सकता है। जिस व्यक्ति में अच्छे मनुष्य होने के गुण होंगे वह अच्छा नागरिक भी हो सकेगा।

यद्यपि अशिक्षा, अज्ञान, निजी हित की ही भावना, दरिद्रता, दलबन्दी, साम्प्रदायिकता, रूढ़िवादिता, सामाजिक असन्तुलन आदि किसी भी व्यक्ति के अच्छे नागरिक बनने के मार्ग में बाधक सिद्ध होते हैं किन्तु सुशिक्षा और सुव्यवस्थित सामाजिक संगठन के द्वारा इनसे बचा जा सकता है। यदि सामाजिक संगठन सुव्यवस्थित एवं ठीक है तो नागरिक अपने कर्तव्यों का ज्ञान और पालन ठीक ढंग से कर सकते हैं। साधारणतया जीवन सुखी होने पर व्यक्ति राज्य और राष्ट्र के हित की ओर ध्यान दे पाता है। अतः सबसे अधिक आवश्यक तो यह है कि व्यक्ति का जीवन निरापद, सुखी और शांत हो ताकि वह अपने कर्तव्यों और अधिकारों के बीच सामंजस्य स्थापित कर सके। व्यक्ति को इस प्रकार की शिक्षा देने का प्रबन्ध राज्य की ओर से होना चाहिए।

नागरिक को जीवित रहने का अधिकार होना चाहिए। उसके प्राण और धन सम्पत्ति की सुरक्षा का प्रबन्ध राज्य की ओर से ही किया जाना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा-प्राप्ति की सुविधा और अवसर मिलना चाहिए। राज्य की ओर से ऐसा प्रबंध होना चाहिए जिससे कि व्यक्ति साधारण शिक्षा भी प्राप्त कर सके और जीविकोपार्जन के योग्य भी बन सके। उपयोगी नागरिक बनना नागरिक का कर्तव्य है और वैसा बन पाने के लिए शिक्षा प्राप्त करने की सुविधाएँ पाना उसका अधिकार है। प्रत्येक

नागरिक को विवाह और पारिवारिक जीवन व्यतीत करने का भी अधिकार होता है। राज्य की ओर से उसे अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करने का अधिकार मिलना चाहिए। प्रत्येक नागरिक को राजनीतिक अधिकार एवं अन्य सब नागरिकों के समान सुविधाएँ प्राप्त करने का भी अधिकार होता है। वैयक्तिक, सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकारों के साथ-ही-साथ इस युग में व्यक्ति को आत्माभिव्यक्ति एवं राज्य के अनुचित कार्यों का विरोध करने का अधिकार भी होता है।

नागरिक के कर्तव्यों में सर्वप्रथम कर्तव्य है विधि को मान कर चलना। प्रत्येक नागरिक को विधि का सम्मान रखने में राज्य की सहायता करनी चाहिए। नागरिकों के सहयोग के बिना कानून का ठीक-ठीक पालन नहीं हो सकता है। आवश्यकता पड़ने पर प्रत्येक नागरिक को राज्य के प्रत्येक कार्य में सहयोग देना चाहिए। समय पर कर दे देना, अपने मताधिकार को ठीक-ठीक प्रयोग में लाना, अपने बच्चों को ठीक ढंग से शिक्षा देना, आवश्यकता पड़ने पर न्यायालय में जूरी के पद से कार्य करना अथवा युद्धकाल में राज्य की ओर से फौज में कार्य करना, उपयोगी और उत्तरदायी नागरिक के रूप में सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं शांति बनाये रखने में सहायक होना, राज्य के सब कामों में रुचि रखना एवं सहयोग देना नागरिक के कर्तव्य हैं और उसे इनका पालन करना चाहिए।

वस्तुतः आदर्श मनुष्य अपने अधिकारों का उचित उपयोग करता हुआ एवं अपने कर्तव्यों का ठीक-ठीक पालन करता हुआ आदर्श नागरिक होकर स्वयं भी सुखी होता है और अपने समाज को भी सुखी बनाता है।

अच्छी नागरिकता की यह पहचान है कि वह व्यक्ति को चरित्रवान्, समझदार, परोपकारी, आत्मसंयमी, बुद्धिमान्,

क्षमाशील, निःस्वार्थ, ईमानदार, उत्तरदायी और परोपकारी बनाती है। संकुचित दृष्टिकोण लेकर कोई भी व्यक्ति अच्छा नागरिक नहीं बन सकता है। समाज के ढांचें का मुख्य आधार ही नागरिकता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को आदर्श नागरिक बनने का प्रयत्न करना चाहिए। इसी से व्यक्ति का व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन सुखी बन सकता है।

: ६ :

रामचरितमानस का महत्त्व

डा० श्यामसुन्दर दास

जिस प्रकार गोस्वामी जी का जीवन राममय था, उसी प्रकार उनकी कविता भी राममय थी। श्रीराम-चरित की व्यापकता में उन्हें अपनी कला के सम्पूर्ण कौशल के विस्तार का सुयोग प्राप्त था। उसी में उन्होंने अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति का परिचय दिया। अन्तः प्रकृति और बाह्य प्रकृति दोनों से उनके हृदय का समन्वय था। इसी से उन्हें चरित्र-चित्रण और प्रकृति-चित्रण दोनों में सफलता प्राप्त हुई।

गोस्वामी जी केवल भावों के शुष्क मनोवैज्ञानिक विश्लेषक न थे, उन्होंने उनके हल्के और गहरे रूपों को एक दूसरे के साथ संश्लिष्टावस्था में देखा था, जैसा कि वास्तविक जगत् में देखा जाता है। रामचरितमानस की विस्तीर्ण भूमि में इन्हीं के स्वाभाविक संयोग से उनकी रसप्रसविनी लेखनी सब रसों की धारा बहाने में समर्थ हुई है।

कला का एक प्रधान उद्देश्य जीवन की व्याख्या करते हुए उसे किसी उच्चतम आदर्श में ढालने का प्रयत्न करना है। भावाभिव्यक्ति में जितनी सरलता होगी उतनी ही इस उद्देश्य में सफलता भी होगी। कला के इसी उद्देश्य ने गोस्वामी जी को संस्कृत का विद्वान् होने पर भी देववाणी की ममता छोड़कर जनवाणी का आश्रय लेने के लिए बाध्य किया था। संस्कृत, जिसमें अब तक रामकथा संरक्षित थी अब जनसाधारण की बोलचाल की भाषा न

रहकर पंडितों के ही मंडल तक बंधी रह गयी थी। इससे राम-चरितमानस का आनंदपूर्ण लाभ सर्वसाधारण न उठा सकते थे। इसी से गोस्वामी जी को भाषा में रामचरित लिखने की प्रेरणा हुई।

रामचरितमानस का जो व्यापक प्रभाव भारतीय जनता पर है उसका कारण गोस्वामी जी की उदारता, उनकी विलक्षण प्रतिभा तथा उनके उद्‌गारों की सत्यता आदि तो है ही साथ ही उसका सबसे बड़ा कारण है उनका विस्तृत अध्ययन और उनकी सारग्राहिणी प्रवृत्ति। "नानापुराणनिगमागमसम्मत" राम-चरित मानस लिखने की बात अन्यथा नहीं है, सत्य है। भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों को गोस्वामीजी ने विविध शास्त्रों से ग्रहण किया था और समय के अनुरूप उन्हें अभिव्यंजित करके अपनी अपूर्व दूरदर्शिता का परिचय दिया था। यों तो उनके अध्य-यन का विस्तार अत्यधिक था, परन्तु उन्होंने रामचरितमानस में प्रधानतः वाल्मीकीय रामायण का आधार लिया है। साथ ही उन पर वैष्णव महात्मा रामानन्द की छाप स्पष्ट देख पड़ती है। उनके रामचरितमानस में मध्यकालीन धर्म-ग्रंथों—विशेषतः अध्यात्म-रामायण, योगवासिष्ठ तथा अद्‌भुत रामायण—का प्रभाव कम नहीं है। भुशुंडिरामायण और हनुमन्नाटक नामक ग्रंथों का ऋण भी गोस्वामी जी पर है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाल्मीकीय रामायण की कथा लेकर उसमें मध्यकालीन धर्म-ग्रंथों के तत्त्वों का समावेश कर साथ ही अपनी उदार बुद्धि और प्रतिभा से अद्-भुत चमत्कार उत्पन्न कर उन्होंने जिस अनमोल साहित्य का सृजन किया, वह उनकी सारग्राहिणी प्रवृत्ति के साथ ही उनकी प्रगाढ़ मौलिकता का भी परिचायक है।

गोस्वामी जी की समस्त रचनाओं में उनका रामचरितमानस

ही सर्वश्रेष्ठ रचना है और उसका प्रचार उत्तर भारत में घर-घर है। गोस्वामी जी का स्थायित्व और गौरव इसी पर सबसे अधिक अवलम्बित है। रामचरितमानस करोड़ों भारतीयों का एकमात्र धर्म-ग्रंथ है। जिस प्रकार संस्कृत साहित्य में वेद, उपनिषद् तथा गीता आदि पूज्य दृष्टि से देखे जाते हैं, उसी प्रकार आज संस्कृत का लेशमात्र ज्ञान न रखने वाली जनता भी करोड़ों की संख्या में रामचरितमानस को पढ़ती और वेद आदि की ही भांति उसका सम्मान करती है। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि गोस्वामी जी के अन्य ग्रंथ निम्नकोटि के हैं। गोस्वामी जी की प्रतिभा सबमें समान रूप से लक्षित होती है, किन्तु रामचरितमानस की प्रधानता अनिवार्य है। गोस्वामीजी ने हिन्दू धर्म का सच्चा स्वरूप राम के चरित्र में अन्तर्निहित कर दिया है। धर्म और समाज की कैसी व्यवस्था होनी चाहिए, राजा-प्रजा, ऊंच-नीच, द्विज-शूद्र आदि सामाजिक सूत्रों के साथ माता-पिता, गुरु-भाई आदि पारिवारिक सम्बन्धों का कैसा निर्वाह होना चाहिए आदि जीवन के गम्भीर प्रश्नों का बड़ा ही विशद विवेचन इस ग्रंथ में मिलता है।

हिन्दुओं के सब देवता, उनकी सब रीति-नीति, वर्ण-आश्रम-व्यवस्था तुलसीदासजी को स्वीकार हैं। शिव उनके लिए उतने ही पूज्य हैं जितने स्वयं रामचन्द्र। वे भक्त होते हुए भी ज्ञानमार्ग के अद्वैतवाद पर आस्था रखते हैं। संक्षेप में वे व्यापक हिन्दू धर्म के संकलित संस्करण हैं। और उनके रामचरितमानस में उनका वह रूप बड़ी ही मार्मिकता से व्यक्त हुआ है। उनकी उत्कट राम-भक्ति ने उन्हें इतना ऊंचा उठा दिया है कि क्या कवित्व की दृष्टि से और क्या धार्मिक दृष्टि से रामचरितमानस को किसी अलौकिक पुरुष की अलौकिक कृति मान कर आनन्दमग्न होकर, हम उसके विधि-निषेधों को चुपचाप स्वीकार करते हैं। किसी छोटे

भू-भाग में नहीं सारे उत्तर भारत में, करोड़ों व्यक्तियों द्वारा आज उनका रामचरितमानस हमारी सारी समस्याओं का समाधान करने वाला और अनन्त कल्याणकारी माना जाता है। इन्हीं कारणों से उसकी प्रधानता है।

ऊपर के विवेचन का यह अर्थ नहीं है कि गोस्वामीजी ने अध्ययन और प्रतिभा के बल से ही रामचरितमानस की रचना की तथा वे स्वतः अपनी रचनाओं के साथ एकाकार नहीं हुए। उसका यही आशय है कि सामाजिक धर्म, जाति-पांति की व्यवस्था और देवी-देवता की पूजा ही गोस्वामी जी की रचना की प्रधान वस्तुएं हैं। वास्तविक बात तो यह है कि गोस्वामी जी भारतीय आध्यात्मिक साधना की धारा में पूर्ण रूप से निमज्जित हो चुके थे और उनका सर्वोपरि लक्ष्य उक्त साधना को जनता के जीवन में भर देना था। काव्य या साहित्य की रचना अथवा वर्णाश्रम-धर्म की रक्षा का प्रयास आनुषंगिक रूप से गोस्वामी जी के लक्ष्य थे। प्रधानतः तो वे भक्त थे और भक्ति के स्रोत में डूबे हुए थे। राम की भक्ति ही उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य थी और उसी उपलक्ष्य से वे अन्य समस्त कार्य करते थे। भारत की चिरप्रचलित आध्यात्मिक साधना को सामयिक सांचे में ढालकर और उसे रामकथा के प्रबन्ध में सन्निहित कर उन्होंने जन-समाज के मानस को आप्लावित कर दिया। इस देश का कोई कवि सामूहिक ख्याति प्राप्त करने के लिए आध्यात्मिक विद्या का संग नहीं छोड़ सकता। विशेषतः जिस कवि का मुख्य उद्देश्य समाज को भक्ति की धारा में निष्णात कराना रहा हो उसे तो स्वतः अध्यात्मशास्त्र का साधक और अनुयायी होना ही चाहिए। गोस्वामी जी भी ऐसे ही कवि थे।

गोस्वामी तुलसीदास ने नर-काव्य नहीं रचा। केवल एक

स्थान पर अपने काशीवासी मित्र टोडर की प्रशंसा में दो-चार दोहे कहे हैं, अन्यत्र सर्वत्र अपने उपास्य देव राम की महिमा गाई है और राम की कृपा से गौरवान्वित व्यक्तियों का, राम-कथा के प्रसंग में नाम लिया है।

"कीन्हें प्राकृत जग गुनगाना, सिरधुनि गिरा लागि पछिताना।"

का संकेत इस तथ्य की ओर है। यद्यपि गोस्वामी जी ने किसी विशेष मनुष्य की प्रशंसा नहीं की है और अधिकतर अपनी वाणी का उपयोग राम-गुण-कीर्तन में ही किया है, पर राम-चरित्र के भीतर मानवता के जो उदात्त आदर्श प्रस्फुटित हुए हैं वे मनुष्य-मात्र के लिए कल्याणकर हैं। रामचरितमानस में मर्यादावाद की जैसी सुन्दर पुष्टि, गुरु की अवहेलना के लिए शिष्य को दण्डित करके की है, राम-राज्य का वर्णन करके जो उदात्त आदर्श रखा है उनमें और ऐसे हीं अनेक प्रसंगों में गोस्वामीजी की मनुष्य समाज के प्रति हितकामना स्पष्टतः झलकती देखी जाती है। उनके अमर काव्य में मानवता के चिरंतन आदर्श भरे पड़े हैं।

यह सब होते हुए भी तुलसीदास जी ने जो कुछ लिखा है, स्वांतः सुखाय लिखा है। उपदेश देने की अभिलाषा से अथवा कवित्व दर्शन की कामना से जो कविता की जाती है उसमें, आत्मा की प्रेरणा न होने के कारण, स्थायित्व नहीं होता। कला का जो उत्कर्ष हृदय से सीधी निकली हुई रचनाओं में होता है वह अन्यत्र मिलना असंभव है। गोस्वामी जी की यह विशेषता उन्हें हिन्दी-कविता के शीर्षासन पर ला रखती है। एक ओर तो वे काव्य-चमत्कार का भद्दा प्रदर्शन करने वाले कवियों से सहज में ही ऊपर आ जाते हैं और दूसरी ओर उपदेशों का सहारा लेने वाले नीति-वादी भी उनके सामने नहीं ठहर पाते। कवित्व की दृष्टि से तुलसी की प्रांजलता, माधुर्य और ओज अनुपम तथा मानव-जीवन का

सर्वांग निरूपण अप्रतिम हुआ है । मर्यादा और संयम की साधना में गोस्वामीजी संसार के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं । इसके साथ ही जब हम भाषा पर उनके अधिकार तथा जनता पर उनके उपकार की तुलना अन्य कवियों से करते हैं तब उनकी यथार्थ महत्ता का साक्षात्कार स्पष्ट रीति से हो जाता है ।

रामचरितमानस का महत्त्व उसमें व्यंजित भावों की विशदता और व्यापकता से ही नहीं, उसकी मौलिक उद्‌भावनाओं तथा चमत्कारिक वर्णनों से भी है । यद्यपि रामायण की कथा उन्हें महर्षि वाल्मीकि से बनी-बनायी मिल गयी थी परन्तु उसमें भी गोस्वामी जी ने यथोचित परिवर्तन किये हैं । सीता-स्वयंवर के पूर्व फुलवारी का मनोरम वर्णन तुलसीदास जी की अपनी उद्‌भावना है । धनुष-भंग के पश्चात् परशुराम जी का आगमन उन्होंने अपनी प्रबंध-पटुता के प्रतीक-स्वरूप रखा है । कितनी ही मर्मस्पर्शिणी घटनाएं गोस्वामी जी ने अपनी ओर से सन्निहित की हैं । जैसे सीता जी का अशोक वन में विरह-पीड़ित अवस्था में अशोक से आग मांगना और तत्क्षण हनुमान् जी का मुद्रिका गिराना । हनुमान्, विभीषण, सुग्रीव आदि रामभक्तों का चरित्र तुलसीदास जी ने विशेष सहानुभूति के साथ अंकित किया है । गोस्वामी जी के भरत तो गोस्वामी जी के ही हैं—भक्ति की मूर्ति । अपने युग की छाप भी रामचरितमानस में मिलती है जिससे वह युग-प्रवर्त्तक ग्रंथ बन सका है । कलियुग के वर्णन में उन्होंने सामयिक स्थिति का व्यंग-पूर्ण चित्र उपस्थित किया है । ये सब तुलसी की अपनी मौलिकताएं हैं जिनके कारण उनका मानस अन्य प्रान्तीय भाषाओं में लिखे हुए रामकथा के ग्रंथों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण और काव्य-गुणोपेत बन सका । पूरे ग्रंथ में उपमाओं और रूपकादि अलंकारों की नैसर्गिकता चित्त को विमुग्ध करती है ।

वह समस्त वर्णन और वे अलंकार रूढ़िबद्ध या अनुकरणशील कवि में आ ही नहीं सकते। गोस्वामी जी में सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि थी, इसका परिचय स्थान-स्थान पर प्राप्त होता है; वे कोरे भक्त ही नहीं थे, प्रत्युत मानव-चरित्र, उसकी सूक्ष्मताओं और ऋजु-कुटिल गतियों के पारखी भी थे। यह रामचरितमानस में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। मन्थरा के प्रसंग में गोस्वामी जी का यह चमत्कार स्पष्ट लक्षित है। कैकयी की आत्मग्लानि भी उन्होंने मौलिक रूप में प्रकट करायी है। ऐसे ही अन्य अनेक स्थल हैं। प्रकृति के रम्य रूपों का चित्र खड़ा करने की क्षमता हिन्दी के कवियों में बहुत कम है; परन्तु गोस्वामी जी ने चित्रकूट वर्णन में संस्कृतियों से टक्कर ली है। इतना ही नहीं भावों के अनुरूप भाषा लिखने तथा प्रबन्ध में सम्बन्ध-निर्वाह और चरित्र-चित्रण का निरंतर ध्यान रखने में वे अपनी समता नहीं रखते। उत्कट रामभक्ति के कारण उनके रामचरितमानस में उच्च सदाचार का जो एक प्रवाह सा बहा है, वह तो वाल्मीकि-रामायण से भी अधिक गंभीर और पूत है।

: ७ :

गुरुदेव

श्री हरिभाऊ उपाध्याय

मुझे रोम्या रोलां का वह वाक्य याद आता है कि गांधी और रवीन्द्रनाथ एक हिमालय से निकल कर पूर्व और पश्चिम में बहने वाली गंगा और सिंधु के सदृश दो धाराएं हैं। रवीन्द्र और गांधी संसार को आर्य संस्कृति की दो महान् देन हैं। एक में उसके हृदय की सुकुमारता और दूसरे में उसकी आत्मा की तेजस्विता चमक रही है। दोनों इतने महान् हैं कि हमारी स्थिति कबीर की तरह हो जाती है—"गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागूं पाय।"

कविवर वैसे बनर्जी कुल के हैं, किन्तु समाज में माननीय होने के कारण उनका वंश ठाकुर कहलाता है। टैगोर इसी का अंगरेजी मुलम्मा चढ़ा हुआ रूप है। यह टैगोर-कुल केवल बड़े जमींदार के ही नहीं, किन्तु कला और साहित्य के उच्च मर्मज्ञों के रूप में भी बहुत दिनों से प्रसिद्ध रहता आ रहा है। विगत शताब्दी में जो सांस्कृतिक एवं सामाजिक सुधार हुए हैं उनसे ठाकुर-कुल का गहरा सम्बन्ध रहा है। उनके पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुर और पितामह द्वारकानाथ ठाकुर ब्रह्म-समाज के बहुत आगे बढ़े हुए सदस्यों में से थे। वह मूर्तिपूजा और अन्धविश्वासों के कट्टर विरोधी थे। यह उनके ही सतत परिश्रम का फल था कि ब्रह्म-समाज वर्तमान भारतीय जीवन पर अनेक प्रकार के गहरे प्रभाव डाल सका। कहा जाता है कि इसी वंश के कुछ व्यक्तियों ने मुसल-मानों के साथ भोजन करके जाति के नियम को भंग किया था।

विदेश-यात्रा के सम्बन्ध में भी उस समय जाति की ओर से कड़ी पाबन्दी थी। द्वारकानाथ पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इंग्लैंड जाकर इस पाबन्दी को तोड़ा। देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने भी इस आत्म-स्वातन्त्र्य को कायम रखा। किन्तु वह अपने पिता की भांति भारतीय अन्ध-विश्वास और रूढ़ियों के इतने कट्टर विरोधी नहीं थे। धीरे-धीरे उनमें आध्यात्मिक विचारों की प्रधानता होने लगी। प्रार्थना और तपस्या की ओर उनकी प्रवृत्ति बढ़ती गयी। उन्होंने हिमालय की उच्च पर्वत-श्रेणियों में बहुत भ्रमण किया। एक बार आप ६ वर्षीय बालक रवीन्द्रनाथ को भी अपने साथ ले गये थे।

रवीन्द्रनाथ का जन्म मंगलवार ७ मई को ३ बजे प्रातःकाल कलकत्ते में हुआ। इनकी माता का नाम शारदा देवी था। यह अपने पिता की १४वीं सन्तान थे। इसमें सन्देह नहीं कि रवीन्द्रनाथ को प्रारंम्भिक स्फूर्ति अपने पिता से ही मिली। वह प्रायः उनके पास बैठा करते थे। अपने पिता के ध्यान के समय वह उनके पास खेला करते थे। उस समय जो भी नयी चीजें वह देखते थे वे सब उनके लिए नयी खोजें थीं। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ने अपने पिता से ध्यान, प्रार्थना, एकान्त-प्रेम, शान्ति आदि बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें सीखीं जिनसे उनके मनुष्यत्व का विकास हुआ।

बाल्यकाल में ही उनकी माता का स्वर्गवास हो गया। पिता आध्यात्मिकता की ओर आकर्षित हो चुके थे अतएव उन्हें बाल्यकाल में सुख नहीं मिला। नौकरों की देख-रेख में उनका बहुत-सा समय बीता। विद्याध्ययन के लिए उन्हें स्कूल भेजा गया, किन्तु उनका मन स्कूल की पढ़ाई में न लगा। लाचार उन्हें घर पर ही पढ़ाने का प्रबन्ध किया गया। १८७३ ई० में उनका उपनयन संस्कार हुआ। इसी वर्ष उन्होंने 'पृथ्वीराज पराजय' नामक नाटक की रचना की। दूसरे वर्ष १८७४ ई० में उन्होंने शेक्सपीयर

के प्रसिद्ध नाटक मैकबेथ का बंगला में अनुवाद किया। अब वह धीरे-धीरे कविता, कहानी आदि भी लिखने लगे।

सन् १८७७ में उन्होंने पहली बार इंगलैंड की यात्रा की। वह पहले तो ब्राइटन स्कूल में भर्ती हुए। फिर उसे छोड़कर यूनिवर्सिटी कालेज लंदन में भर्ती हुए। इस शिक्षा से उन्हें संतोष नहीं हुआ और वह एक वर्ष बाद भारत आ गये।

रवीन्द्रनाथ बचपन से ही प्रतिभाशाली थे। बौद्धिक प्रतिभा के साथ-ही-साथ आध्यात्मिक विचारों की एक गहरी धारा उनके भीतर प्रकाशित हो रही थी। उन्हें प्रकाश किस प्रकार मिला वह निस्संदेह आश्चर्यपूर्ण है। उन्होंने स्वयं लिखा है––"सूर्य देवता सामने के वृक्षों से झांक रहे थे। मैं उनका स्वागत करने अपने तिमंजिले मकान के छज्जे पर दौड़ गया। वृक्षों पर सूर्य की किरणें पड़ रही थीं। इस समय एकाएक मुझे दिव्य प्रकाश मिल गया। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु इस समय एक ही प्रतीत होती थी––सारा विश्व एक दिखायी देता था। सब चेतन जगत्––यह सारा जीवन प्रकाश और प्रेम से परिपूर्ण दिखायी देने लगा। इस अपूर्व दृश्य का वर्णन मानवी शक्ति के परे है। सूर्य की किरणें हर्ष और सौंदर्य से उत्फुल्ल प्रतीत होने लगीं। प्रकृति का घूंघट हट गया। दूर से दूर, इस सिरे से उस सिरे तक प्रकाश और सौंदर्य की असीमता ही दिखायी देती थी। इससे मुझ में इतना आनन्द आ गया कि उसने लगभग पीड़ा का रूप प्राप्त कर लिया था। पड़ोसी मानवी प्रेम से अभिभूत प्रतीत होने लगे। मैं सड़क के एक दीन भिखारी को भी बड़े प्रेम से देखता था और मेरा हृदय उसके प्रति सहानुभूति से भर जाता था। मैंने बच्चे को अपने साथी के गले में बाहें डालते हुए देखा और यह दृश्य मेरे हृदय में इतना चुभा कि आंखों से आंसू निकल पड़े।

"यह अन्तर्दृष्टि--यह प्रकाश जो कि समुद्र या पृथ्वी पर कभी नहीं था--निरन्तर मेरे साथ रही और अपना सारा जीवन आनन्द की अनुभूति में लगाने का मैंने विचार किया। मेरे बड़े भाई ने मुझे अपने साथ चलकर दार्जिलिंग के चमत्कारपूर्ण प्राकृतिक दृश्यों को देखने के लिए कहा। मैं उनके साथ पहाड़ पर गया, किन्तु मुझे यह कहते हुए हंसी आती है कि मैं गलती पर था। सारा आनन्द खिसक गया। हरएक चीज पीछे रह गयी और दिन के प्रकाश के साथ लुप्त हो गयी। बजाय इसके कि और अधिक प्रकाश देखूं सारा आनन्द मिट गया। उस समय मेरे आध्यात्मिक ध्येय में जो बाधा पड़ी वह मेरे जीवन का सबसे गहरा सबक है। इसका प्रयोजन यह है कि हमें अपने रास्ते से जीवन की शोध करने की आवश्यकता नहीं है। उसे ही हमारी खोज करनी चाहिए। इस बात की आवश्यकता है कि हम उसके मार्ग से उसका अनुभव करें। मनुष्यों से दूर--पहाड़ों में खोजने के बजाय गरीबों के बीच हमें उसका पता लगाना चाहिए।"

१५ वर्ष की अवस्था के पूर्व से ही वह लिखने लग गये थे। अपने आरम्भिक काल में ही वह अच्छी रचनाएं करने लगे थे। उत्तरोत्तर उनकी रचनाएं उनकी प्रतिभा का परिचय देने लगीं और जल्दी ही उनकी धाक बंगाली साहित्य पर बैठ गयी।

९ दिसम्बर सन् १८९३ को मृणालिनी देवी के साथ उनका विवाह हुआ। साहित्यिक कार्यों में वह अब अधिक प्रवृत्त हुए और अपनी साहित्यिक योग्यता के कारण वह लोकप्रिय होने लगे। कुछ लोग उनको 'बंगाल के शेली' के नाम से पुकारने लगे। १८९१ में उनकी 'मानसी' नामक एक प्रौढ़ रचना प्रकाशित हुई। वृद्ध पिता ने रवीन्द्रनाथ को कलकत्ता छोड़कर गांव के शांत वातावरण में रहने की सलाह दी। अतएव वह अपनी जमींदारी के स्यालदा

नामक ग्राम में, जो गंगा के किनारे है, जाकर रहने लगे। यहाँ रवीन्द्रनाथ के जीवन के सबसे अधिक सुखी दिन बीते। वह कभी-कभी अपनी नाव में बैठकर गंगा के बीच के रेतीले मैदान में चले जाते, जो कहीं-कहीं किनारे से ३ मील दूर है। वह वहाँ अकेले ही प्रकृति से अपने हृदय का सम्बन्ध स्थापित करने में तल्लीन हो जाते थे। उन्होंने वहाँ बहुत ही सुन्दर रचनाएं कीं किन्तु इस प्रकार एकांतप्रियता एवं कल्पना के लोक में विचरण करने के साथ ही वह गाँव की वास्तविक परिस्थिति से उदासीन नहीं रहे। अपनी जायदाद के अच्छे प्रबंध की ओर भी उन्होंने ध्यान दिया और ग्रामों की समस्याओं का भी अध्ययन किया। इस समय वह ऐसे अच्छे प्राकृतिक दृश्यों के बीच में थे, जिनको वह अधिक चाहते थे और जिनका उन्होंने बड़ा ही सुंदर वर्णन किया है। विस्तृत एवं शस्यश्यामल मैदान, सुंदर नहरें और पक्षियों का कलरव उनको बहुत आकर्षित करता था। प्रकृति से तादात्म्य स्थापित कर लेने में एवं अपनी प्रतिभा के विकास में यहाँ उन्हें पर्याप्त शांति और समय मिला।

यहाँ का समय सफलता एवं सुंदर रचनाओं की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। लगभग चार वर्षों तक उन्होंने निरंतर एक-से-एक अच्छे निबंध, कहानियां और कविताएं ही नहीं लिखीं किंतु अच्छे नाटक भी लिखे। 'बलिदान' बंगला साहित्य का सर्वश्रेष्ठ नाटक है। 'चित्रांगदा' भी अपने ढंग की एक बेजोड़ रचना है। उनके गीति-काव्यों की श्रेष्ठता भी अपनी चरमता पर पहुंचने लगी थी। उनका 'सोनारतरी' नामक कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ है। जिस में उनके रहस्यवादी विचारों का अच्छा विकास दिखाई देता है। इसके दो वर्ष बाद 'चित्रा' और फिर 'उर्वशी' प्रकाशित हुईं। ये रचनाएं विश्वसाहित्य में सौंदर्य-पूजा की दृष्टि से बेजोड़ हैं।

रवीन्द्रनाथ का हृदय देश-प्रेम से परिपूर्ण था। वह विदेशी शोषण के विरोधी थे। काका कालेलकर के शब्दों में देशभक्ति उनका व्यसन नहीं किंतु स्वभाव था। उस समय देश में दो प्रकार के लोग थे। एक प्रकार के लोग मानते थे कि—"हम गिरे हुए हैं, इसलिए जो कुछ हमारा है, सब कूड़ा-कर्कट है, उसे साफ करके हमें अपने राजकर्त्ताओं का अनुकरण करना चाहिए।" उनकी संकीर्ण-बुद्धि में यह नहीं आया कि अंधानुकरण ही मरण है। अंधानुकरण का जीवन कृत्रिम होता है, अपमानकारक होता है और होता है अत्यन्त ही हास्यास्पद। इसके विपरीत दूसरा पक्ष कहता था—"अंग्रेज बुरे हैं। उनकी संस्कृति हेय है। हमारा सब कुछ बढ़िया है, हम लोग तो संस्कृति के सर्वोच्च शिखर पर विराजमान हैं। हमें दूसरों से क्या सीखना है?" किंतु इन लोगों के भी ध्यान में नहीं आया कि यह वृत्ति भी उतनी ही कृत्रिम और खोखली है। रवीन्द्रनाथ इन दोनों का त्याग करने को कहते थे—"तुम अपने को पहचानो। अपना जीवन शुद्ध और समृद्ध करो। तपस्या से तुम्हारी शक्ति अपने-आप बढ़ने लगेगी, फिर किसी की ताकत नहीं जो तुम्हारा अपमान करे।"

वह चाहते थे कि भारत के प्राचीन आदर्शों को फिर जागरित और जीवित करना चाहिए। उन्होंने आर्यों की सभ्यता तथा उपनिषदों पर व्याख्यान दिये और सिक्खों, राजपूतों तथा मरहठों की वीरता एवं आत्मविश्वास की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

इस समय उनका सबसे बड़ा स्मृति-चिह्न शांति-निकेतन है। इस विश्वविख्यात विद्यालय की स्थापना सन् १९०१ में हुई। हमारे प्राचीन आदर्शों के पुजारी होने के साथ-साथ रवीन्द्रनाथ पश्चिम की वर्तमान प्रगति से एकदम उदासीन नहीं थे। शांति-निकेतन में पश्चिम की वर्तमान शिक्षा-प्रणाली को कुछ अंशों में

ग्रहण भी किया गया। वह चाहते थे कि इस विद्यालय के द्वारा प्राचीन आदर्शों की प्राप्ति की जाय और भारतीय विद्यार्थी के मन और आत्मा का इतना विकास कर दिया जाय कि वह सौंदर्य, प्रेम और ईश्वर की ओर उन्मुख हो सके। शांतिनिकेतन एक आदर्श संस्था समझी जाने लगी और देश ही नहीं विदेशों से भी विद्यार्थी आकर भरती होने लगे। इसी प्रकार विदेशों से अध्यापक भी शांति-निकेतन में आकर काम करने लगे। इनमें दीनबंधु एंड्रूज़ और पीयर्सन काफी प्रसिद्ध अध्यापकों में से थे।

कविवर का गार्हस्थ्य जीवन इस समय काफी सुखी था। शिक्षा-व्रती कवि जिस समय अपने आदर्श शिक्षालय के संगठन में प्रवृत्त थे उस समय उनकी धर्मपत्नी उनके इस कार्य में बराबर सहयोग देती थीं। अपने हाथ से छात्रों के लिए जलपान तैयार करने का भार उन्होंने लिया था। छात्रों को अपने स्नेह से उन्होंने गढ़ना चाहा था। विद्यालय को आरम्भ हुए अभी एक वर्ष भी नहीं हुआ था कि कवि-पत्नी का देहान्त हो गया। कवि-संसार को भंग करके वह अकाल में ही चल बसीं। मृत्यु-शैय्या पर कवि ने अपनी पत्नी की जैसी सेवा-शुश्रूषा की उसकी छाप आज भी परिवार के लोगों पर ज्यों-की-त्यों अंकित है। पत्नी के असामयिक निधन से कवि को मर्मान्तक पीड़ा हुई।

कवि के जीवन का अब बड़ा ही दुःखमय अध्याय प्रारम्भ होता है। सन् १९०२ के नवम्बर मास में पत्नी का देहान्त तो हो ही गया था, दो वर्ष बाद ही उनकी दूसरी कन्या की भी मृत्यु हो गई। इसके बाद १९०५ में उनके वृद्ध पिता भी चल बसे। नियति का निर्दय प्रहार यहीं तक सीमित नहीं रहा। एक ही वर्ष बाद उनके बड़े पुत्र की भी मृत्यु हो गई। अपने इस पुत्र को वह बहुत प्यार करते थे। मृत्यु के निरंतर प्रहारों के कारण कवि की

आत्मा करुण-क्रन्दन कर उठी। 'स्मरण' 'खेवैया' और 'नौका डूबी' नामक रचनाएं इसी काल की हैं। इन रचनाओं में कवि के बड़े ही मार्मिक उद्‌गार हैं। इस शोक के बीच ही कवि को एक दूसरा दिव्य प्रकाश प्राप्त हुआ। तब निश्चित रूप से उन्होंने यह जान लिया कि मृत्यु अंत नहीं जीवन की पूर्णता है।

इसके बाद से कवि ने पश्चिम में जाना प्रारम्भ किया। सबसे पहले वह बीमारी की अवस्था में इंगलैण्ड गये और वहां उनका एक बड़ा आपरेशन हुआ जो कि बिल्कुल सफल रहा। यही वह समय था जब कि उनकी 'गीतांजलि' नामक बंगला कविताओं का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ। अनुवाद स्वयं कवि ने किया था। इस छोटी-सी सुन्दर काव्य-पुस्तक ने उन्हें विश्व-विख्यात कर दिया। उन्होंने अमेरिका की यात्रा की और विश्व-विख्यात होकर १९१३ में भारत लौटे। भारत आने के कुछ ही सप्ताह बाद विश्व-साहित्य का सुप्रसिद्ध नोबल पुरस्कार उन्हें मिला। सिर्फ एक ही कवि की साधना से भारतवर्ष की एक प्रान्तीय भाषा विश्व-साहित्य की भाषा बन गयी। प्रतिकूल वातावरण एवं साधन-हीनता के होते हुए भी अपने चारों ओर के असहयोग को लांघ जाने और उन्हें बदल देने में ही रवीन्द्रनाथ की प्रतिभा की सिद्धि है। रवीन्द्रनाथ ने अपनी वीणा के स्वरों से निराश और विक्षुब्ध जाति में नव-जीवन का संचार किया। साम्प्रदायिकता के स्थान पर राष्ट्रीयता को प्रतिष्ठित किया। उन्हीं के प्रयत्न से नवजागृत बंगाली मानस स्वाधीनता के स्वप्न से व्याकुल और चंचल हो उठा। स्वधर्म-प्रतिष्ठा की साधना में रवीन्द्रनाथ कवि ही नहीं पथ-प्रदर्शक भी हैं।

इन्हीं वर्षों में जब कि सारे विश्व में उनकी कीर्तिकौमुदी फैल चुकी थी, कवि की अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाएं प्रकाशित हुईं। उन्हें

'नाइट' की उपाधि प्रदान की गयी तथा अन्य कई प्रकार से देश में उनका सम्मान हुआ।

उन्होंने राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता के आदर्शों को मूर्तरूप देने के लिए 'विश्व-भारती' नामक एक विश्व-संस्कृति की संस्था की स्थापना की और ग्राम-सुधार के लिए श्रीनिकेतन की स्थापना की, जो कि ग्रामों के पुनर्निर्माण के लिए विश्वभारती का एक विभाग है। सन १९२० और '३० के बीच में उन्होंने बड़ी यात्राएं कीं। किंतु उनका ध्यान सदैव विश्वभारती की उन्नति में लगा रहा। नोबल पुरस्कार से और पुस्तकों से जो कुछ उन्हें मिला वह सब वह उसके लिए खर्च करते रहे। शनैः शनैः वह एक विश्व-विद्यालय के रूप में परिणत हो गया और उसका नाम सचमुच ही विश्व-भारती हो गया जो कि संसार-भर की संस्कृति का बोधक है। संसार के विभिन्न देशों के विद्यार्थी यहां कार्य एवं संस्कृति के बन्धुत्व में परस्पर मिल-जुल कर रहते हैं। यूरोप और एशिया के कतिपय बड़े-बड़े विद्वान् भी यहां आते हैं और यहां रहकर भारतीय कला, संगीत और संस्कृति का अध्ययन करते हैं। कवीन्द्र यहां साधारणतः एक अध्यापक और संस्थापक सभापति के रूप में रहते थे। उन्होंने अपनी सारी संपत्ति ही नहीं, अपना सारा जीवन इसे अर्पण कर दिया।

साहित्य, कला और संस्कृति के लिए जहां कवि ने इतना किया वहां समय-समय पर स्वदेश-प्रेम भी प्रदर्शित किया। बंग-भंग के समय उन्होंने बहुत काम किया। जलियांवाला बाग के हत्या-काण्ड से तो वह इतने दुःखी हुए कि उन्होंने अपनी 'सर' की उपाधि का परित्याग कर दिया। उनके अंग्रेजी मित्र इससे असंतुष्ट होकर अलग हो गये; किन्तु उन्होंने इसकी बिलकुल चिन्ता नहीं की। राजनीति में गांधी जी से कुछ मतभेद होते हुए

भी वह उनपर बड़ी श्रद्धा रखते थे। यही हाल गांधीजी का भी था। जब बंगाल में गांधी-विरोधी आन्दोलन आरम्भ हुआ तो उस समय उन्होंने उसका कड़ा विरोध किया।

उन्होंने वर्तमान अंग्रेजी शासन की उस नीति की सदैव निन्दा की है जिसके द्वारा भारतवासियों की स्वतंत्रता का अपहरण किया गया और करोड़ों व्यक्तियों को दरिद्रता और दीनता का जीवन व्यतीत करना पड़ रहा है। वह साम्राज्यवाद के बड़े विरोधी थे किन्तु उन्होंने साम्राज्यवाद का मुकाबला करने एवं स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए कभी हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन करने की राय नहीं दी। सभ्यता और सांस्कृतिक उत्थान के लिए उन्होंने सदैव अंग्रेजों के साथ सहयोग करने की राय दी। वृद्धावस्था के कारण अन्तिम दिनों में उनका स्वास्थ्य कुछ खराब रहने लगा था किन्तु उनकी आध्यात्मिक शक्ति का ह्रास नहीं हुआ। समय-समय पर जब आवश्यकता हुई तब उन्होंने बर्बरता, पशुता, जुल्म और हत्याओं के विरोध में अपनी आवाज बुलन्द की और करारे जवाब दिये।

कवीन्द्र की प्रतिभा बहुमुखी थी। वह केवल कवि, उपन्यासकार, नाटककार एवं कहानी-लेखक ही नहीं थे, किन्तु एक बड़े संगीतज्ञ, चित्रकार, तत्त्वज्ञानी, पत्रकार, अध्यापक, वक्ता एवं अभिनय की कला में प्रवीण थे। संस्कृत के काव्यों एवं मध्यकाल के वैष्णव साहित्य से उन्हें बहुत प्रेरणा मिली थी। उपर्युक्त विषयों पर उनका असाधारण अधिकार था। ज्ञान की तो वह मानो सजीव मूर्ति थे। अपनी असाधारण प्रतिभा और भावोद्वेग से उन्होंने विश्व-मानव की वन्दना की। देश और जाति के संकीर्ण बंधनों को त्यागकर समस्त मानवता को अपने हृदय में धारण किया। पीड़ित मानव की वेदना को भाषा प्रदान की, उसकी आशा को

उन्होंने छन्दों में रूपान्तरित किया और उसके आनन्द को संगीत की सैकड़ों धाराओं में बहाया। मानव-महत्त्व के इस पुजारी ने देश-विदेशो में भ्रमण करके मानवता को दानवी-शक्ति से छुटकारा दिलाने की अमर वाणी सुनाई। नगर छोड़कर देहात के एकांत गोद में साधना करते हुए दीर्घ-जीवन व्यतीत करके, ८ अगस्त, १९४१ को गुरु-पूर्णिमा के दिन अस्सी वर्ष की अवस्था में अपने जोड़ासांकों के राजभवन में शिष्य-प्रशिष्यों के बीच उन्होंने शरीर-त्याग किया। उन्हें खोकर विश्व-मानव दरिद्र हो गया।

श्री किशोरलाल मशरूवाला के शब्दों में—"व्यास,वाल्मीकि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, पराशर आदि वैदिक ऋषि सब कालों में वर्त्तमान पुरुष हो गये हैं। अगर लिखित इतिहास का लोप हो जाय तो श्री रवीन्द्र की भी गणना उन्हींके समकालीनों में होगी।"

गांधी जी कहते हैं—गुरुदेव हिंदुस्तान की सेवा के मार्फत सारे जगत् की सेवा करना चाहते थे और सेवा करते-करते चले गये। उनकी आत्मा तो अमर है जैसे हम सबकी है। उनकी प्रवृत्तियां व्यापक थीं और प्रायः सभी ऐसी पारमार्थिक थीं कि उनकी मार्फत वह अमर रहेंगे। शांतिनिकेतन, श्रीनिकेतन, विश्वभारती ये सब एक ही कृति के नाम हैं। वे गुरुदेव का प्राण थीं। उन्हींके लिए दीनबन्धु गये व बाद में गुरुदेव।"

: ८ :

मजदूरी और प्रेम

अध्यापक पूर्णसिंह

हल चलाने वाले और भेड़ चराने वाले प्रायः स्वभाव से ही साधु होते हैं। हल चलाने वाले अपने शरीर का हवन किया करते हैं। खेत उनकी हवनशाला है। उनके हवनकुण्ड की ज्वाला की किरणें चावल के लंबे और सफेद दानों के रूप में निकलती हैं। गेहूं के लाल-लाल दाने इस अग्नि की चिनगारियों की डलियां-सी हैं। मैं जब कभी अनार के फूल और फल देखता हूं तब मुझे बाग के माली का रुधिर याद आ जाता है। उसकी मेहनत के कण जमीन में गिर कर उगे हैं, और हवा तथा प्रकाश की सहायता से वे मीठे फलों के रूप में नजर आ रहे हैं। किसान मुझे अन्न में, फूल में फल में, आहुति हुआ-सा दिखाई देता है। कहते हैं, ब्रह्माहुति से जगत् पैदा हुआ है। अन्न पैदा करने में किसान भी ब्रह्मा के समान है। खेती उसके ईश्वरी प्रेम का केंद्र है। उसका सारा जीवन पत्ते-पत्ते में, फूल-फूल में, फल-फल में विचर रहा है। वृक्षों की तरह उसका भी जीवन एक तरह का मौन जीवन है। वायु, जल, पृथ्वी, तेज और आकाश की नीरोगता इसी के हिस्से में है। विद्या यह नहीं पढ़ा; जप और तप यह नहीं करता; सन्ध्या-वन्दनादि इसे नहीं आते; ज्ञान, ध्यान का इसे पता नहीं; मसजिद, गिरजा, मन्दिर से इसे सरोकार नहीं; केवल साग पात खाकर ही यह अपनी भूख निवारण कर लेता है। ठण्डे चश्मे और बहती हुई नदियों के शीतल जल से यह अपनी प्यास बुझा लेता है। प्रातःकाल उठकर यह

अपने हल बैलों को नमस्कार करता है और हल जोतने चल देता है। दोपहर की धूप इसे भाती है। इसके बच्चे मिट्टी ही में खेल-खेलकर बड़े हो जाते हैं। इसको और इसके परिवार को बैलों और गौओं से प्रेम है। उनकी यह सेवा करता है। पानी बरसाने वाले के दर्शनार्थ इसकी आंखें नीले आकाश की ओर उठती हैं। नयनों की भाषा में यह प्रार्थना करता है। सायं और प्रातः, दिन और रात, विधाता इसके हृदय में अचिन्तनीय और अद्भुत आध्यात्मिक भावों की वृष्टि करता है। यदि कोई इसके घर आ जाता है तो यह उसको मृदु वचन, मीठे जल और अन्न से तृप्त करता है। धोखा यह किसी को नहीं देता। यदि इसको कोई धोखा दे भी दे, तो उसका इसे ज्ञान नहीं होता, क्योंकि इसकी खेती हरी-भरी है, गाय इसकी दूध देती है, स्त्री इसकी आज्ञाकारिणी है, मकान इसका पुण्य और आनन्द का स्थान है। पशुओं का चराना, नहलाना, खिलाना, पिलाना, उनके बच्चों की अपने बच्चों की तरह सेवा करना, खुले आकाश के नीचे उनके साथ रात गुजार देना क्या स्वाध्याय से कम है? दया, वीरता और प्रेम जैसा इन किसानों में देखा जाता है, अन्यत्र मिलने का नहीं। गुरु नानक ने ठीक कहा है—"भोले भाव मिलें रघुराई।" भोले-भाले किसानों को ईश्वर अपने खुले दीदार का दर्शन देता है। उनकी फूस की छतों में से सूर्य और चन्द्रमा छन-छन कर उनके बिस्तरों पर पड़ते हैं। ये प्रकृति के जवान साधु हैं। जब कभी मैं इन बेमुकुट के गोपालों का दर्शन करता हूं, मेरा सिर स्वयं ही झुक जाता है। जब मुझे किसी फ़कीर के दर्शन होते हैं तब मुझे मालूम होता है कि नंगे सिर, नंगे पांव, एक टोपी सिर पर, एक लंगोटी कमर में, एक काली कमली कंधे पर, एक लम्बी लाठी हाथ में लिए हुए गौओं का मित्र, बैलों का हमजोली, पक्षियों का महाराज, महाराजाओं

का अन्नदाता, बादशाहों को ताज पहनाने और सिंहासन पर बिठाने वाला, भूखों और नंगों का पालने वाला, समाज के पुष्पोद्यान का माली और खेतों का वाली जा रहा है।

एक बार मैंने एक बुड्ढे गडरिए को देखा। घना जंगल है। हरे-हरे वृक्षों के नीचे उसकी सफेद ऊन वाली भेड़ें अपना मुंह नीचा किए हुए कोमल-कोमल पत्तियां खा रही हैं। गडरिया बैठा आकाश की ओर देख रहा है। ऊन कातता जाता है। उसकी आंखों में प्रेमलीला छायी हुई है। वह नीरोगता की पवित्र मदिरा से मस्त हो रहा है। बाल उसके सारे सफेद हैं। और, क्यों न सफेद हों ! सफेद भेड़ों का मालिक जो ठहरा। परन्तु उसके कपोलों से लाली फूट रही है। बरफानी देशों में वह मानो विष्णु के समान क्षीर-सागर में लेटा है। उसकी प्यारी स्त्री उसके पास रोटी पका रही है। उसकी दो जवान कन्याएं उसके साथ ज़ंगल-जंगल भेड़ चराती घूमती हैं। अपने माता पिता और भेड़ों को छोड़ कर उन्होंने किसी और को नहीं देखा। मकान उनका बेमकान है, घर इनका बेघर है, ये लोग बेनाम और बेपता हैं।

किसी घर में न घर कर बैठना इस दरे फानी में।
ठिकाना बे ठिकाना और मकां बर लामकां रखना ।।

इस दिव्य परिवार को कुटी की जरूरत नहीं। जहां जाते हैं, एक घास की झोंपड़ी बना लेते हैं। दिन को सूर्य और रात को तारागण इनके सखा हैं।

गडरिए की कन्या पर्वत के शिखर के ऊपर खड़ी सूर्य का अस्त होना देख रही है। उसकी सुनहली किरणें इसके लावण्यमय मुख पर पड़ रही हैं। यह सूर्य को देख रही है और वह इसको देख रहा है।

हुए थे आँखों के कल इशारे इधर हमारे उधर तुम्हारे ।
चले थे अश्कों के क्या फवारे इधर हमारे उधर तुम्हारे ।।

बोलता कोई भी नहीं। सूर्य उसकी युवावस्था की पवित्रता पर मुग्ध है और वह आश्चर्य के अवतार सूर्य की महिमा में पड़ी नाच रही है।

इनका जीवन बर्फ की पवित्रता से पूर्ण और बन की सुगंधि से सुगंधित है। इनके मुख, शरीर और अन्तःकरण सफेद, इनकी बर्फ, पर्वत और भेड़ें सफेद। अपनी सफेद भेड़ों में यह परिवार शुद्ध सफेद ईश्वर के दर्शन करता है।

जो खुदा को देखना हो तो मैं देखता हूँ तुमको ।
मैं देखता हूँ तुमको जो खुदा को देखना हो ।।

भेड़ों की सेवा ही इनकी पूजा है। जरा एक भेड़ बीमार हुई, सब परिवार पर विपत्ति आयीं। दिन रात उसके पास बैठे काट देते हैं। उसे अधिक पीड़ा हुई तो इन सबकी आंखें शून्य आकाश में किसी को देखते-देखते गल गईं। पता नहीं ये किसे बुलाती हैं। हाथ जोड़ने तक की उन्हें फुरसत नहीं। पर, हां, इन सबकी आंखें किसी के आगे शब्दरहित, संकल्परहित मौन प्रार्थना में खुली हैं। दो रातें इसी तरह गुजर गयीं। इनकी भेड़ अब अच्छी है। इनके घर मंगल हो रहा है। सारा परिवार मिल कर गा रहा है। इतने में नीले आकाश पर बादल घिर आए और झम-झम बरसने लगे। मानो प्रकृति के देवता भी इनके आनन्द से आनन्दित हुए। बूढ़ा गडरिया आनन्दमत्त होकर नाचने लगा। वह कहता है कुछ नहीं, पर किसी दैवी दृश्य को उसने अवश्य देखा है। वह फूले अंग नहीं समाता, रग-रग उसकी नाच रही है। पिता को ऐसा सुखी देख दोनों कन्यायों ने एक दूसरे का हाथ पकड़कर पहाड़ी राग अलापना आरम्भ कर दिया। साथ ही धम-धम थम-थम नाच की उन्होंने

धूम मचा दी। मेरी आंखों के सामने ब्रह्मानन्द का समा बांध दिया। मेरे पास मेरा भाई खड़ा था। मैंने उससे कहा, "भाई, अब मुझे भी भेड़ें ले दो।" ऐसे ही मूक जीवन से मेरा भी कल्याण होगा। विद्या को भूल जाऊं तो अच्छा है। मेरी पुस्तकें खो जावें तो उत्तम है। ऐसा होने से कदाचित् इस वनवासी परिवार की तरह मेरे दिल के नेत्र खुल जाएं और मैं ईश्वरीय झलक देख सकूं। चन्द्र और सूर्य की विस्तृत ज्योति में जो वेदगान हो रहा है उससे इस गडरिए की कन्याओं की तरह मैं सुन तो न सकूँ। परन्तु कदाचित् प्रत्यक्ष देख सकूँ। कहते हैं, ऋषियों ने भी इनको देखा ही था, सुना न था। पंडितों की ऊटपटांग बातों से मेरा जी उकता गया है। प्रकृति की मंद-मंद हंसी में ये अनपढ़ लोग ईश्वर के हंसते हुए ओंठ देख रहे हैं। पशुओं के अज्ञान में गम्भीर ज्ञान छिपा हुआ है। इन लोगों के जीवन में अद्‌भुत आत्मानुभव भरा हुआ है। गडरिए के परिवार की प्रेम मजदूरी का मूल्य कौन दे सकता है?

आपने चार आने पैसे मज़दूर के हाथ रख कर कहा, "यह लो दिन भर की अपनी मजदूरी।" वाह क्या दिल्लगी है? हाथ, पांव, सिर, आंखें इत्यादि सब के सब अवयव उसने आपको अर्पण कर दिये। ये सब चीजें उसकी तो थी ही नहीं, ये तो ईश्वरीय पदार्थ थे। जो पैसे आपने उसको दिये वे भी आपके न थे। वे तो पृथ्वी से निकली हुई धातु के टुकड़े थे, अतएव ईश्वर के निर्मित थे। मजदूरी का ऋण तो परस्पर की प्रेम सेवा से चुकता होता है, अन्न धन देने से नहीं। वे तो दोनों ही ईश्वर के हैं। अन्न धन वही बनाता है और जल भी वही देता है। एक ज़िल्दसाज़ ने मेरी पुस्तक की जिल्द बांध दी मैं तो इस मजदूर को कुछ भी नहीं दे सका। परन्तु उसने मेरी उम्र भर के लिए एक विचित्र वस्तु मुझे

दे डाली । जब कभी मैंने उस पुस्तक को उठाया, मेरे हाथ जिल्द-साज के हाथ पर जा पड़े । पुस्तक देखते ही मुझे जिल्दसाज याद आ जाता है । वह मेरा आमरण मित्र हो गया है, पुस्तक हाथ में आते ही मेरे अन्तःकरण में रोज भरतमिलाप का सा समां बंध जाता है ।

गाढ़े की एक कमीज को एक अनाथ विधवा सारी रात बैठकर सीती है, साथ ही साथ वह अपने दुर्भाग्य पर रोती भी है दिन को खाना न मिला; रात को भी कुछ मयस्सर न हुआ । अब वह एक-एक टांके पर आशा करती है कि कमीज कल तैयार हो जाएगी, तब कुछ तो खाने को मिलेगा । जब वह थक जाती है तब ठहर जाती है । सुई हाथ में लिए हुए है, कमीज घुटने पर बिछी हुई है, उसकी आंखों की दशा उस आकाश की जैसी है जिसमें बादल बरस कर अभी-अभी बिखर गये हैं । खुली आंखें ईश्वर के ध्यान में लीन हो रही हैं । कुछ काल के उपरांत "हे राम" कहकर उसने फिर सीना शुरू कर दिया । इस माता और इस बहन की सिली हुई कमीज मेरे लिए मेरे शरीर का नहीं मेरी आत्मा का वस्त्र है । इसका पहनना मेरी तीर्थयात्रा है । इस कमीज में उस विधवा के सुख-दुःख, प्रेम और पवित्रता के मिश्रण से मिली हुई जीवनरूपिणी गंगा की बाढ़ चली जा रही है । ऐसी मजदूरी और ऐसा काम प्रार्थना, सन्ध्या और नमाज से क्या कम है ? शब्दों से तो प्रार्थना हुआ नहीं करती । ईश्वर तो कुछ ऐसी ही मूक प्रार्थनाएं सुनता है और तत्काल सुनता है ।

मुझे तो मनुष्य के हाथ से बने हुए कामों में उनकी प्रेममय पवित्र आत्मा की सुगंध आती है । राइफल आदि के चित्रित चित्रों में उनकी कला की कुशलता को देख, इतनी सदियों के बाद भी, उनके अन्तःकरण के सारे भावों का अनुभव होने लगता है ।

केवल चित्र का ही दर्शन नहीं, किन्तु, साथ ही, उसमें छिपी चित्र-कार की आत्मा तक के दर्शन हो जाते हैं। परन्तु यंत्रों की सहायता से बने हुए फोटो निर्जीव से प्रतीत होते हैं। उनमें और हाथ के चित्रों में उतना ही भेद है जितना की बस्ती और श्मशान में।

हाथ की मेहनत से चीज में जो रस भर जाता है वह भला लोहे के द्वारा बनाई हुई चीज में कहां! जिस आलू को मैं स्वयं बोता हूं, मैं स्वयं पानी देता हूं, जिसके इर्द-गिर्द की घास-पात खोदकर मैं साफ करता हूं उस आलू में जो रस मुझे आता है वह टीन में बन्द किए हुए अचार मुरब्बे में नहीं आता। मेरा विश्वास है कि जिस चीज में मनुष्य के प्यारे हाथ लगते हैं, उसमें उसके हृदय का प्रेम और मन की पवित्रता सूक्ष्म रूप से मिल जाती है और उसमें मुर्दे को जिन्दा करने की शक्ति आ जाती है। होटल में बने हुए भोजन महा नीरस होते हैं, क्योंकि वहां मनुष्य मशीन बना दिया जाता है। परन्तु अपनी प्रियतमा के हाथ से बने हुए रूखे-सूखे भोजन में कितना रस होता है। जिस मिट्टी के घड़े को कंधों पर उठा कर, मीलों दूर से उसमें मेरी प्रेममग्न प्रियतमा ठण्डा जल भर लाती है, उस लाल घड़े का जल जब मैं पीता हूं, तब जल क्या पीता हूं, अपनी प्रेयसी के प्रेमामृत का पान करता हूं। जो ऐसा प्रेम-प्याला पीता हो उसके लिए शराब क्या वस्तु है? प्रेम से जीवन सदा गद्गद् रहता है। मैं अपनी प्रेयसी की ऐसी प्रेम भरी, रस भरी, दिल भरी सेवा का बदला क्या कभी दे सकता हूं?

उधर प्रभात ने अपनी सुफेद किरणों से अन्धेरी रात पर सफेदी-सी छिटकाई, इधर मेरी प्रेयसी, मैना अथवा कोयल की तरह, अपने बिस्तर से उठी। उसने गाय का बछड़ा खोला, दूध की धारों से अपना कटोरा भर लिया। गाते-गाते अन्न को अपने

हाथों से पीस कर सुफेद आटा बना लिया । इस सुफेद आटे से भरी हुई छोटी-सी टोकरी सिर पर, एक हाथ में दूध से भरा हुआ लाल मिट्टी का कटोरा, दूसरे हाथ में मक्खन की हांडी । जब मेरी प्रिया घर की छत के नीचे इस तरह खड़ी होती है तब वह छत के ऊपर की श्वेत प्रभा से भी अधिक आनन्ददायक, बलदायक, बुद्धिदायक जान पड़ती है । उस समय वह उस प्रभा से भी अधिक रसीली, अधिक रंगीली, जीती जागती, चैतन्य और आनन्दमयी प्रात:कालीन शोभा सी लगती है । मेरी प्रिया अपने हाथ से चुनी हुई लकड़ियों को अपने दिल से चुराई हुई एक चिनगारी से लाल अग्नि में बदल देती है । जब वह आटे को छलनी से छानती है तब मुझे उसकी छलनी के नीचे एक अद्भुत ज्योति की लौ नजर आती है । जब वह उस अग्नि के ऊपर मेरे लिए रोटी बनाती है तब उसके चूल्हे के भीतर मुझे तो पूर्व दिशा की नभोलालिमा से भी अधिक आनन्ददायिनी लालिमा देख पड़ती है । यह रोटी नहीं, कोई अमूल्य पदार्थ है । मेरे गुरु ने इसी प्रेम से संयम करने का नाम योग रखा है । मेरा यही योग है ।

आदमियों की तिजारत करना मूर्खों का काम है । सोने और लोहे के बदले मनुष्य को बेंचना मना है । आजकल भाप की कलों का दाम तो हजारों रुपया है, परन्तु मनुष्य कौड़ी के सौ-सौ बिकते हैं । सोने और चांदी की प्राप्ति से जीवन का आनन्द नहीं मिल सकता, सच्चा आनन्द तो मुझे मेरे काम से मिलता है । मुझे अपना काम मिल जाए तो फिर स्वर्गप्राप्ति की इच्छा नहीं, मनुष्य-पूजा ही सच्ची ईश्वर-पूजा है । मन्दिर और गिरजे में क्या रखा है ? ईंट, पत्थर, चूना कुछ ही कहो आज से हम अपने ईश्वर की तलाश मन्दिर, मसजिद, गिरजा और पोथी में न करेंगे । अब तो यही इरादा है कि मनुष्य की अनमोल आत्मा में ईश्वर के दर्शन

करेंगे। यही आर्ट है, यही धर्म है। मनुष्य के हाथ ही से तो ईश्वर के दर्शन कराने वाले निकलते हैं। मनुष्य और मनुष्य की मजदूरी का तिरस्कार करना नास्तिकता है। बिना काम, बिना मजदूरी, बिना हाथ के कला-कौशल के विचार और चिन्तन किस काम के ? सभी देशों के इतिहासों से सिद्ध है कि निकम्मे पादड़ियों, मौलवियों, पंडितों और साधुओं का, दान के अन्न पर पला हुआ ईश्वरचिन्तन, अन्त में पाप, आलस्य, भ्रष्टाचार में परिवर्तित हो जाता है। जिन देशों में हाथ और मुंह पर मजदूरी की धूल नहीं पड़ने पाती वे धर्म और कला-कौशल में कभी उन्नति नहीं कर सकते। पद्मासन निकम्मे सिद्ध हो चुके हैं। वही आसन ईश्वर प्राप्त करा सकते हैं जिन से जोतने, बोने, काटने और मजदूरी का काम लिया जाता है। लकड़ी, ईंट और पत्थर को मूर्तिमान् करने वाले लुहार, बढ़ई, मेमार तथा किसान आदि वैसे ही पुरुष हैं जैसे कि कवि, महात्मा और योगी आदि। उत्तम से उत्तम और नीच से नीच काम, सब के सब प्रेम शरीर के अंग हैं।

निकम्मे रह कर मनुष्यों की चिन्तन-शक्ति थक गयी है। बिस्तरों और आसनों पर सोते और बैठे मन के घोड़े हार गये हैं। सारा जीवन निचुड़ चुका है। स्वप्न पुराने हो चुके हैं। आज-कल की कविता में नयापन नहीं। उसमें पुराने जमाने की पुनरा-वृत्ति मात्र है। इस नकल में असल की पवित्रता और कुंवारेपन का अभाव है। अब तो एक नये प्रकार का कला-कौशलपूर्ण संगीत साहित्य-संसार में प्रचलित होने वाला है। यदि वह न प्रचलित हुआ तो मशीनों के पहियों के नीचे दबकर हमें मरा समझिये। यह नया साहित्य मजदूरों के हृदय से निकलेगा। उन मजदूरों के कंठ से यह नयी कविता निकलेगी जो अपना जीवन आनन्द के साथ खेत की मेड़ों का, कपड़े के तागों का, जूते के टांकों का,

लकड़ी के रगों का पत्थर की नसों का भेदभाव दूर करेंगे। हाथ में कुल्हाड़ी, सिर पर टोकरी, नंगे सिर और नंगे पांव, धूल से लिपटे और कीचड़ से रंगे हुए वे बेजबान कवि जब जंगल में लकड़ी काटेंगे तब लकड़ी काटने का शब्द इनके असभ्य स्वरों से मिश्रित होकर वायुयान पर चढ़ दशों दिशाओं में ऐसा अद्भुत गान करेगा कि भविष्यत् के कलावंतों के लिए वही ध्रुपद और मलार का काम देगा। चरखा कातने वाली स्त्रियों के गीत संसार के सभी देशों के कौमी गीत होंगे। मजदूरों की मजदूरी ही यथार्थ पूजा होगी। कलारूपी धर्म की तभी वृद्धि होगी, तभी नये कवि पैदा होंगे, तभी नये औलियों का उद्भव होगा। परन्तु ये सब के सब मजदूरी के दूध से पलेंगे। धर्म, योग, शुद्धाचरण, सभ्यता, और कविता आदि के फूल इन्हीं मजदूर ऋषियों के उद्यान में प्रफुल्लित होंगे।

: ९ :

जीवन और साहित्य

डा० सम्पूर्णानन्द

साहित्य का सम्बन्ध व्यक्ति और राष्ट्रीय जीवन से है। साहित्यकार शून्य में रचना नहीं करता। जगत् की परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना वह रह ही नहीं सकता, इसीलिए कि वह स्वयं जगत् का ही एक अंग है। लेखक के ऊपर परिस्थितियां निरन्तर अपना प्रभाव डालती रहती हैं। लेखक यदि उनसे बचने का प्रयत्न करे तो भी नहीं बच सकता। और न वह यही कह सकता है कि मैं अपनी घड़ी के अनुसार इतने बजे से लेकर इतने बजे तक अपने चारों ओर की परिस्थितियों से प्रभाव ग्रहण करूंगा और इसके बाद नहीं। लेखक चाहे या न चाहे, परिस्थितियां उस पर प्रभाव डालेंगी ही। जीवन में जो क्रियाएं हो रही हैं, साहित्यकार में उनकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक और अनिवार्य है। इसीलिए मेरे मत में 'स्वांतः सुखाय' रचना असम्भव है। जब हम यह कहते हैं कि तुलसी का साहित्य स्वांतः-सुखाय रचा गया है तो वहां पर हमें तनिक रुककर विचार करना चाहिए कि वहां स्वांतः से हमारा क्या प्रयोजन है। तुलसी ने जिस समय यह घोषणा की कि मैं स्वांतःसुखाय रचना कर रहा हूं, उस समय हिन्दी के रीति-कालीन कवि किसी-न-किसी के राज्याश्रित होकर जीवन-यापन कर रहे थे। व राज्याश्रित, शृङ्गारी कवि अपनी जनता से विलग होकर थोड़े-से व्यक्तियों के मनोरंजन का साधन प्रस्तुत करने में संलग्न थे। वे परांतःसुखाय

रचना कर रहे थे। उनका लक्ष्य अपने संरक्षक राजा को प्रसन्न करना होता था, उनकी प्रतिभा पर व्यक्ति की पसन्द का प्रति-बन्ध होता था। 'बिहारी सतसई' की भान्ति फिरदौसी का, शाह-नामा, भी परांतः सुखाय रचा गया है। भांडों या विदूषकों की भांति ये रीतिकालीन कवि दिन-रात इसी चिन्ता में रहते थे कि किन नानाविध प्रकारों से अपने संरक्षक को प्रसन्न करके उनका कृपाभाजन बना जाय। जिस समय साहित्य का वातावरण इतना दूषित हो रहा था, उस समय तुलसी ने उदात्त स्वर में घोषणा की कि मेरी रचना स्वांतःसुखाय है। तुलसी के सामने समस्त हिन्दू-समाज के पुनर्जागरण और उसके दोषों के मार्जन तथा सुधार का लक्ष्य था। इसीलिए समस्त हिन्दू-समाज के लिए साहित्य-रचना ही उनका उद्देश्य था। वे किसी के राज्याश्रित नहीं थे, किसी का उनपर प्रतिबन्ध नहीं था। वे किसी को खुश करने या इनाम पाने के लिए रचना नहीं करते थे। इसे भूमिका में रखकर देखने पर उनके स्वांतःसुखाय का वास्तविक महत्त्व समझ में आता है। वह उनके स्वतंत्र होने की, राज्याश्रय से मुक्त होने की, अपने विश्वास के अनुसार रचना करने की घोषणा है और इस रूप में उसे क्रान्तिकारी कहना भी अनुचित न होगा। उनका स्वांतःसुखाय––परांतःसुखाय का निषेध करता है, परजन हिताय का नहीं। साहित्य-निर्माण के समय हमारे साहि-त्यिकों को भी यह बात स्मरण रखनी चाहिए।

समाज का प्रभाव साहित्यकार पर न पड़े, यह असम्भव है। हां, साहित्यकार पलायन अवश्य कर सकता है, आंख बन्द कर सकता है, जैसा दरबारी कवियों ने किया। दरबारी कविता में समाज के प्रभाव से बचने का, उसको दबाने का प्रयत्न स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। दरबारी कवियों ने अपनी प्रतिभा के बल से

समाज के प्रभाव को दबाने की कोशिश की। परन्तु इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं कि उच्च वर्ग वालों को आसमान पर चढ़ाते समय दरबारी कवियों के मन में ग्लानि अवश्य होती रही होगी। यह बात दूसरी है कि उन्होंने नशा पीकर अपना गम गलत किया हो।

आज की परिस्थितियां बिलकुल भिन्न हैं। आज हमारे सामने एक राजा या महाराजा को प्रसन्न करने का प्रश्न नहीं है। आज हमारे सामने लाखों आदमी हैं, जिन्हें हमको अपनी बात सुनानी है। मैं साहित्य का पंडित नहीं हूं, साहित्य मेरा विषय नहीं है, लेकिन तो भी आजकल मैं देखता हूं कि 'नित्य' साहित्य की रचना का प्रश्न ही मुख्य है। क्या प्रेम, करुणा, वीरता आदि 'नित्य' साहित्य की रचना के लिए उपयुक्त विषय नहीं हैं? यदि ये उपयुक्त विषय हैं, तो यह कैसे हो सकता है कि आप इनका जिक्र तो करें लेकिन इनके पात्रों को छोड़ दें? पात्रों और परिस्थितियों का खयाल रखना जरूरी है, क्योंकि इनका खयाल रखे बिना रस का उद्रेक नहीं हो सकता। कोरा शब्दाडंबर टिकाऊ नहीं। रस के लिए आलंबन तथा उद्दीपन राष्ट्रोपयोगी साहित्य की रचना करना चाहते हैं तो आपको सोचना चाहिए कि आपके देशवासी किन परिस्थितियों में जीवन के दिन काट रहे हैं। साहित्यकार तो सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक सहृदय, संवेदनशील प्राणी होता है। व्यक्ति के, समाज के सुख-दुःख की सबसे गहरी और व्यापक प्रतिक्रिया उसी के अन्दर होती है। इसलिए साहित्यकार का यह स्वाभाविक धर्म होता है कि अपने देश और काल की ठीक-ठीक परिस्थितियों का निर्भीक चित्रण करे। आज यदि देश में चारों ओर भूख और महामारी का ताण्डव हो रहा है, यदि लाखों-करोड़ों आदमी भूख से मर रहे हैं, यदि देश

के जन-जन को पग-पग पर विदेशी दासता की ठोकरें मिल रही हैं, यदि देश दु:खी है और भूख, गुलामी और शोषण का शिकार है और साहित्यकार इन सब क्लेशों की उपेक्षा करके मौज का राग अलापता है तो वह राष्ट्रीय जीवन से कोसों दूर है, वह राष्ट्र के प्रति, साहित्य के प्रति विश्वासघात करता है। उसे साहित्यकार कहलाने का अधिकार नहीं है। यह आकाश-कुसुम देख सकता है पर वह आंख का अन्धा है और राष्ट्र के लिए उसका कोई उपयोग नहीं है। साहित्यकार यदि सच्चा होगा तो उसकी रचना पर जगत् की छाया अवश्य पड़ेगी। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि साहित्यकार फोटोग्राफर होता तो वह चाहे मिस मेयो की भांति नाली की सफाई के दरोगा की रिपोर्ट भले पेश कर दे, पर उसका साहित्य साहित्य न होगा। यह उचित है कि साहित्यकार समाज का दोष जाने, परन्तु केवल उसी के यथार्थ चित्रण से साहित्यकार का कर्तव्य पूरा नहीं हो जाता। जिस प्रकार वैद्य शरीर के विकारों के जानने के साथ स्वास्थ्य के लक्षणों को भी जानता है, उसी प्रकार साहित्यकार को भी समाज के शरीर के विकारों को जानने के साथ-साथ समाज के स्वास्थ्य लक्षणों को भी जानना चाहिए। उसे स्वास्थ्य और रोग दोनों का स्वरूप जानना चाहिए। एक बात यहां पर स्मरण रखने की है कि साहित्यकार केवल प्रचारक नहीं होता, किसी 'वाद' से बंधने पर वह अपने लक्ष्य से गिर जायगा। पर साहित्यकार प्रचारक नहीं है, इसका अर्थ यह नहीं है कि उसकी रचना की सामाजिक उपादेयता नहीं होती। हमारे प्राचीन, संस्कृत के साहित्याचार्यों ने साहित्य को उपादेयता की आधारभूमि पर प्रतिष्ठित किया है। 'काव्य प्रकाश' में काव्य के लक्षण गिनाते समय काव्यप्रकाशकार ने 'शिवेतरक्षतये' को भी प्रतिपादन किया है। अशिव की

क्षति, साहित्य का बड़ा पुनीत अनुष्ठान है । अशिव की क्षति करना साहित्यकार का लक्षण होना चाहिए । जो साहित्यकार ऐसा नहीं करता, उसे सरस्वती के मन्दिर में प्रवेश का अधिकार नहीं है । अशिव की क्षति करने के साथ-साथ हमें समाज के रूप पर भी विचार करना चाहिए अर्थात् इस प्रश्न पर कि दासता और शोषण की अशिव शक्तियों के विनाश के उपरान्त मनुष्य किस ओर जाय, समाज किस ओर जाय ।

योगी की भान्ति सच्चे कलाकार की पहचान भी ऋत और सत्य है । जिस बात को विद्वान् तर्क के द्वारा देर में पाता है, उसको कलाकार अपनी प्रतिभा द्वारा अपनी अन्तश्चेतना (इन्ट्विशन) द्वारा जल्दी पा जाता है । कोई साहित्यकार राष्ट्र के लिए उपयोगी साहित्य का सृजन कर रहा है, इस बात की अकेली पहचान यह है कि साहित्यकार सत्य तथा राष्ट्रीयता को अपनी श्रद्धानुसार जिस रूप में ग्रहण करे, उसी रूप में निर्भयतापूर्वक व्यक्त करे, भागे नहीं । यदि वह ऐसा करता है तो बिना किसी 'वाद' का प्रचारक हुए उसका साहित्य राष्ट्रीय कहलाने का अधिकारी होगा ।

दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी

सन् १९१४ की बात है। फर्रुखाबाद की पबलिक लाइब्रेरी में अखबारों के पन्ने उलट रहा था कि 'माडर्न रिव्यू' में मि० सी० ऐफ० ऐण्ड्रूज़ का एक लेख नजर आया। उसमें महात्मा गांधी जी का जिक्र था इसलिए उसे पढ़ने लगा। मि० ऐण्ड्रूज़ ने लिखा था——

"जब हमारा जहाज भूमि के किनारे पहुंचा तो हमें समुद्र तट पर कितने ही हिन्दुस्तानी दीख पड़े। ये सब हम दोनों को——पियर्सन को तथा मुझे——लेने के लिए आये हुए थे। श्री पोलक को मैं पहचान गया; क्योंकि मैं उनसे दिल्ली में मिल चुका था। उन्हें वहां उपस्थित देखकर मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि मेरा खयाल था कि वे अबतक जेल में ही होंगे। मि० पोलक ने मुझसे कहा, 'सब नेता छूट गये हैं।' मैंने फौरन ही उनसे पूछा, 'गांधीजी कहां हैं?' महात्माजी ने जो निकट ही खड़े हुए थे मुस्कराकर कहा, 'मैं ही गांधी हूं।' उनके दर्शन करते ही मेरे अन्तःकरण में यही प्रेरणा हुई कि उनकी चरण-रज अपने माथे से लगा लूं। तुरन्त मैंने यही किया। महात्मा जी ने मन्द स्वर में कहा, 'कृपया ऐसा न कीजिए। ऐसा करना मुझे लज्जित करना है।' गांधी जी उस समय सफेद धोती और कुर्ता पहने हुए थे और उनका सिर मुंड़ा हुआ था। ऐसा प्रतीत होता था कि वे शोक-सूचक चिह्न धारण किये हुए हैं।"

इस घटना का वर्णन करने के बाद श्री ऐण्ड्रूज़ ने लिखा था कि उनके इस कार्य पर दक्षिण अफ्रीका के गोरे पत्रों ने बड़ा बावैला मचाया था और एक वयोवृद्ध एडीटर साहब ने तो अपने आफिस में बुला कर उन्हें एक एशियावासी के चरण-स्पर्श करने पर खासी डांट भी बतलायी थी।

इस घटना को पढ़कर मैंने उसी दिन अपनी श्रद्धा के पुष्प दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ के व्यक्तित्व पर अर्पित किये थे और तत्पश्चात् पच्चीस-छब्बीस वर्ष——जब तक वे जीवित रहे——मैं अपनी श्रद्धांजलि निरन्तर अर्पित करता रहा।

दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ के दर्शन करने का सौभाग्य मुझे ३ मई सन् १९१८ को कलकत्ते में कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के जोरासंकोवाले भवन पर हुआ था। 'प्रवासी भारतवासी' की भूमिका लिखाने के लिए मैं उनकी सेवा में उपस्थित हुआ था। घंटे भर बातचीत करने के बाद उन्होंने पूछा, "क्या शांतिनिकेतन नहीं देखोगे?" मैंने कहा, "क्यों नहीं? मैं तो उसे एक तीर्थ-स्थान समझता हूं।" तत्पश्चात् मैं बोलपुर गया और कई दिन शान्तिनिकेतन में रहा। उसी समय सर्वप्रथम गुरुदेव के भी दर्शन प्राप्त हुए थे। आज ३२ वर्ष बाद भी उन दिनों की मधुर स्मृति ज्यों-की-त्यों ताजी है। मि० ऐण्ड्रूज़ ने चार-पांच घंटे मेरी पुस्तक के सुनने में व्यय किये और तत्पश्चात् तीन-चार घंटे उसकी भूमिका के लिखने में। इस प्रकार उनका उस दिन का सर्वोत्तम समय मेरे लिए ही व्यय हो गया। शान्तिनिकेतन के उस युग का क्या कहना, जब वहां गुरुदेव, बड़े दादा, दीनबन्धु ऐण्ड्रूज, शास्त्री महाशय (पं० विधुशेखर भट्टाचार्य) और आचार्य क्षितिमोहन सेन विद्यमान थे। अब पहले तीन तो स्वर्गवासी हो चुके हैं और शेष दोनों महानुभाव वहां से अवकाश प्राप्त कर चुके हैं।

तत्पश्चात् जून सन् १९२० में मुझे फिर शान्तिनिकेतन जाना पड़ा और इस बार मैं दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ के जीवन-चरित का मसाला संग्रह करने के उद्देश्य से वहां गया था। पन्द्रह जून की बात है। मैं प्रातःकाल के समय उनकी सेवा में उपस्थित हुआ था। उन्होंने कहा, "आज मैं तुम्हारे ही विषय में सोचता रहा हूं।" मैंने विनम्रतापूर्वक पूछा, "मेरे बारे में आपने क्या विचार किया है ?" श्री ऐण्ड्रूज़ बोले, "मेरा विचार है कि तुम अपनी राजकुमार कालेज इन्दौर की नौकरी छोड़कर शान्तिनिकेतन चले आओ।" मैंने निवेदन किया, "मेरे वृद्ध माता-पिता हैं, कुटुम्ब है और फिर जीविका का प्रश्न भी है।"

श्री ऐण्ड्रूज़ ने उस समय बड़ी सहृदयतापूर्वक कहा, "अपने पिता जी से कहना ऐण्ड्रूज़ को मेरी जरूरत है।" इन शब्दों ने मेरे पैर ही उखाड़ दिये और मैं अपनी नौकरी छोड़कर अगस्त सन् १९२० में शान्तिनिकेतन पहुंच गया।

शान्तिनिकेतन में मुझे चौदह महीने तक दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ की सेवा में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मेरा कर्तव्य था उनके प्रवासी भारतीय-सम्बन्धी कार्य में उनकी सहायता करना; पर किसी पर शासन करना मि० ऐण्ड्रूज़ के स्वभाव के सर्वथा प्रतिकूल था और प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण स्वाधीनता देने में उनका दृढ़ विश्वास था। एक बार उन्होंने मुझ से कहा था, "तुम इसी 'वेणु कुंज' में इसी छप्पर के नीचे बैठकर मेरे विरोध में लेख लिख सकते हो। अपनी अन्तरात्मा के अनुसार जो भी ठीक जंचे वही लिखो।" जब मैं सात-साढ़े सात बजे उनके स्थान 'वेणु कुंज' पर पहुंचता, वे दो-ढाई घंटे काम कर चुके होते थे। दोपहर को भी, जब अन्य अनेक व्यक्ति विश्राम करते थे, मि० ऐण्ड्रूज़ अपना काम बराबर जारी रखते थे। उनके काम के घंटे १४-१५ से कम कभी

न होते और प्रतिदिन सर्वथा थक कर जब वे कहते, "आज के दिन तो हम लोगों ने ठीक काम किया," तो मुझे अपने ऊपर लज्जा आती, क्योंकि मैं छः-सात घंटे से अधिक काम कर ही नहीं पाता था।

शाम के चार बजे का समय है। कागज और कलम लिये हुए लम्बी-लम्बी डग भरते हुए मि० ऐण्ड्रूज़ डाकखाने की ओर भागे जा रहे हैं। डाक निकलने का वक्त हो गया है, लेकिन चिट्ठियां लिखना अब तक समाप्त नहीं हुआ।

कभी वे आठ-आठ बार अपने ही लेख की प्रति करते हुए नजर आते थे, कभी घोर दोपहरी में इधर-से-उधर जाते हुए। बंगला में एक लोकोक्ति है—पागल कुत्ते और अंग्रेज ही दोपहरी में भागते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इस लोकोक्ति को सुनकर श्री ऐण्ड्रूज़ खूब हंसते थे।

रात का एक बजा है। शान्तिनिकेतन में सर्वत्र सन्नाटा है। बिजली की रोशनी कभी की बन्द हो चुकी है, लेकिन 'वेणु कुंज' में प्रकाश दीख पड़ता है। मेज़ पर डिट्ज़ लालटैन रखे हुए श्री ऐण्ड्रूज़ लेख लिख रहे हैं। क्यों ? कल २५ तारीख है और 'माडर्न रिव्यू' के सम्पादक ने न्यूज़ीलैंड के प्रवासी भारतीयों के विषय में लेख मांगा है।

बांस के वृक्षों के निकट एक छोटा-सा घर है। न उसमें कुछ सजावट है, न दिखावट। समाचार-पत्रों का ढेर लगा हुआ है और किताबें तितर-बितर इधर-की-उधर पड़ी हैं। तीन-चार कुर्सियां पड़ी हुई हैं और कुछ मूढ़े भी। एक-दो कुर्सियां तो ऐसी हैं जिनपर बैठना खतरे से खाली नहीं। एक कुर्सी का निर्बल शरीर किसी रस्सी के बल पर थमा हुआ है। मेज़ पर कोई कपड़ा नहीं। उस पर माता-पिता के चित्र रखे हुए हैं। शान्तिनिकेतन के

विद्यार्थियों के भेंट किये हुए फूल भी हैं। दवात, होल्डर, चाकू, किताब, अखबार और छोटा-सा सन्दूक भी उसी पर रखा हुआ है। समाचार-पत्रों के इस गड़बड़ समुद्र में श्री ऐण्ड्रूज़ का चश्मा खो गया है और घबराये हुए आप इधर-उधर तलाश कर रहे हैं। पूछते हैं, "तुमने हमारा चश्मा तो नहीं देखा ?"

एक बार जब गांधी जी कलकत्ते की स्पेशल कांग्रेस के बाद शान्तिनिकेतन पधारे थे, नियमानुसार मि० ऐण्ड्रूज़ का चश्मा खो गया। घबराते हुए वे गान्धी जी के कमरे में आये और बोले, "मैं आपसे बातचीत करने आया था। कहीं मेरा चश्मा तो नहीं रह गया ?" मौलाना शौकतअली के चश्मे का घर वहीं रखा हुआ था। गांधीजी ने मि. ऐण्ड्रूज़ से कहा, "देखिए, यह तो नहीं है ?" मि० ऐण्ड्रूज़ ने चश्मा निकाल कर लगा लिया और कहा, "हां, बस यही है।" फिर आपने उस चश्मे के घर में रखा हुआ एक तार देखा, जो मौलाना के नाम था। तब आप बोले, "यह चश्मा मेरा नहीं है। यह तो मौलाना शौकत अली का होगा।" गांधी जी और पूज्य कस्तूर बा इत्यादि जो भी व्यक्ति वहां उपस्थित थे, खूब खिलखिलाकर हंसने लगे। फिर बा ने एक चश्मे का घर देते हुए कहा, देखो इसमें तो नहीं है तुम्हारा चश्मा ?"

श्री ऐण्ड्रूज़ ने चश्मे का घर खोला तो उसमें कोई चश्मा था ही नहीं। वह खाली था। श्री ऐण्ड्रूज़ लज्जित हो गये और फिर अट्टहास हुआ। गांधीजी को खूब हंसते हुए देखकर मि. ऐण्ड्रूज़ बोले, "मेरा तो चश्मा खो गया है और आप लोग हंस रहे हैं। इसमें हंसने की कौन-सी बात है ?" गांधीजी ने फिर हंसकर कहा, "चश्मा तुम्हारा खो गया है, हमारा नहीं। हमारे लिए तो यह हंसी की बात ही है।"

एक बार मि० ऐण्ड्रूज़ को ज्वर आ गया; पर उस दशा में

भी उन्हें विश्राम कहां ! उन्होंने बोलकर तीस-बत्तीस पत्र लिखा डाले ।

यह देखकर अत्यन्त दुःख होता था कि बहुत दिनों तक हमारे देशवासी मि० ऐण्ड्रूज़ को ब्रिटिश सरकार का खुफिया ही समझते रहे और उधर भारत सरकार भी उनपर निरन्तर अविश्वास ही करती रही । जहां कहीं वे जाते, सी० आई० डी० के आदमी उनका पीछा करते । सन् १९०७ में उन्होंने खुद एक आदमी को, जो खुफिया पुलिस का था, रंगे हाथों पकड़ लिया था। वह उनकी मेज़ की दराज में हाथ डाले हुए था । जब मि० ऐण्ड्रूज़ ने उसे धमकाया तो डर कर उसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया कि पुलिस विभाग ने उसे भेजा था । जब मि० ऐण्डूज़ ने दिल्ली के कमिश्नर साहब को इस बारे में क्रोधपूर्ण पत्र लिखा तो उनका उत्तर आया, "वह आदमी मेरी पुलिस का नहीं था।"

पूर्व अफ्रीका में तो रेल-यात्रा के समय एक स्टेशन पर गोरे लोगों ने मि० ऐण्ड्रूज़ की बड़ी दुर्दशा की थी । उनको अपने डिब्बे से घसीटकर वे प्लेटफार्म पर लाना चाहते थे और मि० ऐण्ड्रूज़ ने लोहे की जंजीर पकड़ रखी थी । उनकी दाढ़ी पकड़ कर खूब नोची गई । इस दुर्घटना से उन्हें ज्वर हो आया था । बाद को यह प्रश्न ब्रिटिश पार्लमेंट में भी उठाया गया था ।

शान्तिनिकेतन में भी कितने ही व्यक्ति मि० ऐण्ड्रूज़ पर अविश्वास करते थे और महात्माजी ने इस अविश्वास को अनेक अंशों में दूर किया था ।

एक बार पूर्व अफ्रीका के 'डेमोक्रेट' नामक भारतीय पत्र ने मि० ऐण्ड्रूज़ पर यह नीचतापूर्ण आक्षेप इतने भद्दे ढंग पर किया था कि वे तिलमिला उठे थे । फिर अमेरिका में भी यही हुआ था। पर वे इस निन्दा के अभ्यस्त हो चुके थे और उन्होंने उसे शान्ति-

पूर्वक सहने का ही प्रयत्न किया। फरवरी १९३० में उन्होंने अपने पत्र में मुझे लिखा था––

"दरअसल लोगों में मेल-जोल कराना बहुत ही मुश्किल काम है। पर यह किसने कहा था कि यह आसान होगा ? मैंने अपने ऊपर किये हुए इस आक्षेप के बारे में किसी को नहीं लिखा, क्योंकि उसे भुला देना ही ठीक होगा। दुर्भाग्य की बात है कि इस प्रकार के आक्षेप से महान् अहित होगा, यद्यपि अन्त में इससे कुछ भलाई ही होगी। मुझे एक बात की खुशी है, वह यह कि इस बार मैं वैसा उद्विग्न नहीं हुआ, जैसा पूर्व अफ्रीका के 'डेमोक्रेट' वाले मामले में हुआ था। इस बार मैं धैर्य धारण कर सका और शान्त भी रहा और गीता तथा 'निष्काम कर्म' की महिमा को इस बार मैंने बेहतर तौर पर समझा।"

इस प्रकार के अविश्वासमय वातावरण में मि० ऐण्ड्रूज को बहुत वर्षों तक काम करना पड़ा। उनके जीवन के पूरे ३६ वर्ष भारतभूमि की सेवा करते हुए बीते। यदि उनकी समस्त सेवा का पूरा-पूरा विवरण तैयार किया जाय तो भारत के इने-गिने नेताओं को छोड़कर मि० ऐण्ड्रूज़ का कार्य किसी से भी पीछे न रहेगा। ध्यान देने योग्य बात यह है कि जहां भारतीय नेता स्वदेश के लिए तप और त्याग कर रहे थे, श्री ऐण्ड्रूज़ ने मनुष्यता के उच्चतर धरातल पर इस भूमि की सेवा की थी।

सन् १९२० में गांधीजी ने 'भारतभक्त ऐण्ड्रूज़' की भूमिका में लिखा था––"यदि धृष्टता न समझी जाय तो मैं अपना यह विश्वास लिपिबद्ध कर देना चाहता हूं कि सी० एफ० ऐण्ड्रूज़ से ज्यादा सच्चा, उनसे बढ़कर विनीत और उनसे अधिक भारतभक्त इस भूमि में दूसरा कोई देशसेवक विद्यमान नहीं।"

और हमारे प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने भी आत्म-

चरित में बड़ी श्रद्धापूर्वक इस बात का ज़िक्र किया है कि मि० ऐण्ड्रूज़ की पुस्तक 'इंडियन इंडिपेंडेंस--इट्स इमीडिएट नीड' (भारतीय स्वाधीनता और इसकी तुरन्त आवश्यकता) ने भारतीय भावनाओं को बड़ी खूबी के साथ प्रकट करके भारतीयों की हृत्तंत्री को झंकृत कर दिया था।

यह बात भी भूलने की नहीं है कि दो बार मि० ऐण्ड्रूज़ ने महात्माजी के उपवास के दिनों में उनके प्राण बचाने में बड़ी भारी सहायता दी थी। जब बन्धुवर श्री श्रीराम शर्मा ने सेवाग्राम में महात्मा जी से पूछा, "ऐण्ड्रूज़ साहब ने भारत की जो सेवाएं की हैं, उनमें मुख्य क्या हैं ?" तो उन्होंने उत्तर दिया, "मेरे पास अवकाश हो तो मैं उसका गुणगान जिन्दगी भर करूं।"

जनवरी सन् १९४० में मुझे शान्तिनिकेतन जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। तुलसी लाइब्रेरी के मन्त्री श्रीयुत धावलेजी मेरे साथ थे। इस बार मैंने अपने कमरे से दीनबन्धु ऐण्ड्रूज़ के कई चित्र लिये थे। अकस्मात् एक दिन मेरे मुंह से निकल गया, "आज तो मेरा जन्म-दिवस है।" मैं यों ही मज़ाक कर रहा था, यद्यपि वह था जन्मदिवस ही। मि० ऐण्ड्रूज़ बोले, "तो मैं तुम्हें अच्छी चाय पिलाऊंगा और कुछ भेंट भी दूंगा।" मैंने इसे मज़ाक ही समझा, पर मि० ऐण्ड्रूज़ ने सचमुच बहुत बढ़िया चाय बनवायी और उसके साथ मिठाई और फलों का भी प्रबन्ध किया। मुझे अपने मजाक पर लज्जित होना पड़ा, पर चौबे होने के कारण मैं मिठाई का मोह छोड़ नहीं सका। मैंने डटकर भोजन किया। उस दिन भी मि० ऐण्ड्रूज़ दिन भर एक लेख लिखते रहे, जो शान्तिनिकेतन के हिन्दी भवन पर था और जब शाम को मैं पहुंचा तो कहा, "यह भेंट तुम्हारे जन्मदिवस के लिए है।" और फिर एक दूसरी भेंट भी दी, वह थी 'क्राइस्ट इन साइलेंस' ('शांति में

ईसा') नामक अपनी पुस्तक।

अपनी भूल से मैं उस ग्रंथ को उनकी मेज पर ही छोड़ आया। रात को साढ़े आठ बजे थे। आचार्य क्षितिमोहन सेन तथा बन्धुवर हजारीप्रसाद जी द्विवेदी के साथ मैं हिन्दी भवन में बैठा हुआ था कि उधर से लालटेन हाथ में लिये श्री ऐण्ड्रूज़ आते हुए नज़र आये। पहुंचते ही उन्होंने उलाहना दिया कि अपनी भेंट तुम वहीं छोड़ आये थे। और फिर द्विवेदी जी को मेरे जन्म-दिवस की बात भी सुना दी। द्विवेदीजी को भी मज़ाक सूझा। वे बोले, "इन्होंने हमें बताया भी नहीं, चुपचाप ही सब मिठाई खा ली!" खूब हंसी हुई। मेरी छड़ी वहीं रखी थी। श्री ऐण्ड्रूज़ ने उसे उठाकर पीठ पर छुआते हुए कहा—"यह भूल तुमने क्यों की? अपने जन्म-दिवस की बात इनसे क्यों छिपायी?" हम सब खूब हंसते रहे।

अपनी लालटेन लिये हुए मि० ऐण्ड्रूज़ अपनी कुटी को लौट गये। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने कहा, "कितने प्रेमी जीव हैं ये!" मैं उन्हें जाते हुए देख रहा था। वही उनके अन्तिम दर्शन थे। उस दिन १२ जनवरी थी। ५ अप्रैल १९४० को उनका देहान्त हो गया।

: ११ :

समाजवाद या समाजधर्म ?

श्री किशोरलाल मशरूवाला

यह एक विचार करने योग्य प्रश्न है कि हमको जगत् में प्रथम किस बात की जरूरत है—समाजवाद की या समाजधर्म की ? सब लोग सुखी हों, कोई गरीब न हो, सभी को आरोग्य, बल, बुद्धि, विद्या, संपत्ति आदि सुख के साधन प्राप्त हों, सर्वत्र समानता का व्यवहार हो, आदि शुभेच्छाएं पुराने जमाने से प्रार्थना, नाटक आदि के अन्त में, हम लोगों में प्रकट की जाती हैं। मतलब यह कि समाजवाद के इस ध्येय से किसी विवेकी मनुष्य का विरोध नहीं हो सकता है। किसी समझदार मनुष्य को समाज की ऐसी हालत में सन्तोष नहीं हो सकता कि जिसमें कुछ व्यक्तियों के पास तो अपार संपत्ति, अधिकार, उच्च पद और अवकाश हों, और अधिकांश लोगों को अत्यन्त परिश्रम करते हुए भी तंगी, अधीनता, भय और जी-हुजूरी में ही जीवन काटना पड़ता हो। न तो हमारे देश के, और न किसी दूसरे देश के ही किसी महात्मा पुरुष ने यह हालत कभी अच्छी समझी है, अथवा वैसा उपदेश ही दिया है। यह भी बात नहीं है कि ऐसे महात्मा पुरुष केवल अरण्यवासी—जनता से अलग रहना ही पसन्द करने वाले—रहे हैं। इनमें से कई ने तो स्वयं, और कई के शिष्यों ने, राजसत्ता भी प्राप्त की थी, और इस ध्येय की दिशा में कुछ चेष्टाएं भी की थीं। फिर, अनेक प्रकार की राज्य-प्रणालियों के भी प्रयोग हो चुके हैं। एकतन्त्र सत्ता, चन्द बड़े और ऊंचे खयालात के लोगों की सत्ता,

सारी जमात की सत्ता—आदि अनेक प्रकार के राज्य-तन्त्रों का इतिहास में पता चलता है। लेकिन अभी तक मानव-जाति समानता के आदर्श को व्यवहार में सिद्ध करने में सफल नहीं हुई है। ऐसा क्यों है ?

मुझे तो लगता है कि जब तक मानव-हृदय में समाजधर्म का उदय न हो, तब तक समाजवाद—यानी समानता का आदर्श—अधिकार के जोर पर स्थापित राज्य-तन्त्रों द्वारा सिद्ध होने वाली चीज ही नहीं है। अभी तक मानव-हृदय इतना संस्कृत होने ही नहीं पाया है कि वह अपने वैयक्तिक सुख, स्वातन्त्र्य, कीर्त्ति, अधिकार आदि की आकांक्षाओं को भूल ही जाय, और सार्वजनिक सुख को ही जीवन का ध्येय बना ले। जब तक मानव हृदय की ऐसी अवस्था है, तब तक किसी भी स्वरूप के राज्य-तन्त्र द्वारा समानता की सिद्धि होना मुझे असंभव मालूम होता है। तब तक क्रान्ति से केवल इतना ही हो पाता है कि एक पक्ष के हाथ में से दूसरा पक्ष राज्य-लक्ष्मी को छीन लेता है, कुछ दिन तक उस राज्याधिकार का सदुपयोग करता है और बाद को दुरुपयोग करने लगता है तथा अपना अधिकार बनाए रखने के लिए जनता का दमन करता है। जब तक मानव-समाज की व्यवस्था बल की नींव पर बने हुए राज्य-तन्त्रों पर अवलंबित रहेगी, तब तक उस राज्य-तन्त्र का स्वरूप कैसा भी क्यों न हो, उसमें से वर्ग-विहीनता पैदा हो ही नहीं सकती। मानवजाति में निर्माण होने वाली वर्ग-रचनाएं, खुदाई—प्रकृति की व्यवस्था में अनिवार्य—चीजें नहीं हैं। पर जब तक मानव-हृदय में यह वृत्ति जोर पर है कि पड़ोसी के सुख और अपने सुख के बीच में संघर्ष होने पर वह अपने सुख का पहला खयाल करे; अथवा पड़ोसी का सुख बढ़ाने के लिए स्वयं उसे कुछ तकलीफ न उठानी पड़े, बल्कि बन सके तो पड़ोसी के

श्रम द्वारा स्वयं ही कुछ लाभ उठा ले; अथवा जब तक यह वृत्ति मौजूद है कि कितना अच्छा हो यदि बिना परिश्रम किये वह सब सुखों को प्राप्त कर सके---यानी परिश्रम से बचने ही में आनन्द माने---तब तक वह यही कोशिश करता रहेगा कि सुख के साधनों पर उसका अपना अधिकार हो जाय, और वह बल उसे प्राप्त हो कि जिससे वह अधिकार उसके पास कायम रहे।

निजी जायदाद न होने से ही मनुष्य प्रोलेटेरियन---अकिंचन---नहीं होता। जो मनुष्य चाहता है कि उसके पास अपनी निजी जायदाद हो, और वह बढ़ती रहे, वह आज भले ही अकिंचन हो, पर वस्तुतः वह मालदारों के वर्ग का ही है। मेरा मतलब यह नहीं है कि अकिंचनता केवल मानसिक भाव है, और स्थूल रूप में मालदार होने पर भी मानसिक अकिंचनता का दावा करना बिलकुल सही है। साधारणतया मानव-हृदय में जायदाद पर कब्जा रखने की लालसा इतनी प्रबल दिखायी देती है कि अपनी सारी निजी जायदाद का विसर्जन कर देने पर भी उसकी व्यवस्था और उपयोग में उसकी आग्रह-युक्त दिलचस्पी रहती है। इतना ही नहीं, बल्कि फिर तो दूसरों की जायदाद की व्यवस्था और उसका उपयोग करने का भी बलवान् मोह आ सकता है। मतलब यह कि संपत्ति का प्रभाव मानव-हृदय पर अजीब-सा है और इसी कारण अकिंचनता की नितान्त सिद्धि होने नहीं पाती। अकिंचनता को मनुष्य कष्टमय स्थिति ही समझता आया है। आदर्श अथवा इष्ट स्थिति है---ऐसा नहीं समझता। इसलिए जब तक यह मानव-स्वभाव है, तब तक अकिंचन---वर्गहीन---समाज कायम नहीं होगा।

और जब तक मनुष्य के हृदय पर इस संस्कार का जोर है कि परिश्रम करना आफत है, उससे बचना ही सुख है, तब तक भी वर्गहीन समाज का कायम होना असंभव मालूम होता है। जीवन-

निर्वाह के आवश्यक पदार्थ शरीर-बल से पैदा किये जायं या यन्त्र-बल से, यह गौण प्रश्न है। परिस्थिति के अनुसार समय-समय पर यन्त्र के उपयोग की मर्यादा निश्चित करने का ही यह सवाल है। लेकिन इतना तो निश्चित है कि चाहे शरीर-बल का अधिक उपयोग करें अथवा यन्त्र-बल का, जीवन-निर्वाह के आवश्यक पदार्थों को पैदा किये बिना काम नहीं चलेगा। अर्थात् अन्न, वस्त्र, मकान, रास्ते, रोशनी, सफाई, बाल-वृद्ध निर्बलों का पालन, शिक्षा आदि की व्यवस्था करनी ही होगी। केवल एक बटन दबा देने से ही, इनमें से अधिकांश काम यदि संभव भी हों तब भी, बटन दबाने का परिश्रम और उसकी चिन्ता तो किसी को करनी ही होगी। लेकिन जब परिश्रम को कष्ट मानने का संस्कार मनुष्य बना लेता है, तब बटन दबाने और उसकी चिन्ता करने में भी उसे आफत मालूम होती है, और वह इच्छा करता है कि कोई दूसरा उस जिम्मेदारी को ले ले और वह स्वयं पड़ा रहे अथवा कुछ दूसरा 'विशेष महत्त्व' का काम करता रहे। उठकर घड़े में से पानी लेकर पी लेना, अथवा लोटा लेकर जंगल चले जाना, ये तो कोई बड़े परिश्रम के काम नहीं हैं। लेकिन इनमें भी मनुष्य तकलीफ समझता है। चाहता है कि पत्नी या लड़का या नौकर पानी ला दे, लोटा भर दे, और नौकर लोटा लेकर साथ चले। सोना तो हर एक मनुष्य चाहता है और आराम से सोना चाहता है; पर साथ ही वह यह भी चाहने लगता है कि उसका बिछौना कोई दूसरा आदमी तैय्यार कर दे, ताकि उतने समय में वह श्रमजीवियों की अवस्था पर एक लेख या कविता की कुछ पंक्तियां लिख डाले।

यह बात भी नहीं है कि मनुष्य को शारीरिक परिश्रम से ही हमेशा एतराज है। दंड, बैठक, कुश्ती आदि व्यायाम के लिए, या

पैदल घूमने के लिए वह तैयार हो ही जाता है। पर अजीब बात है कि जिन पर अपना जीवन निर्भर है, उनके लिए तनिक-सा भी परिश्रम करने में वह कष्ट महसूस करता है। मित्रों के साथ गप्प उड़ाने के लिए वह रातभर जागरण करेगा, लेकिन खेत की रखवाली करने के लिए किसी और को ढूंढेगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि असल बात यह है कि जब तक संकल्पमात्र से जीवन-निर्वाह के सब साधन प्राप्त करने की मनुष्य ने शक्ति प्राप्त नहीं की है, तब तक कुछ-न-कुछ परिश्रम तो किसी-न-किसी को करना ही होगा। और परिश्रम को आफत समझने का संस्कार यदि उसमें दृढ़ हो गया है, तो उस आफत को किसी दूसरे पर धकेलने का वह प्रयत्न करता ही रहेगा। इस प्रयत्न का ही नाम वर्ग-निर्माण करने का प्रयत्न है।

और बल के द्वारा किसी खास व्यवस्था के निर्माण करने में जिनकी श्रद्धा है, उनके लिए अन्त में जाकर 'डिक्टेटरशिप' तक पहुंच जाना अंनिवार्य हो जाता है। आज दस व्यक्ति यह मान लेते हैं कि सारी जनता से वे विशेष समझदार हैं, अधिकतर लोग तो मूर्ख और जड़ हैं, वे नहीं जानते कि किस बात में उनका कल्याण है। और कुछ लोग जो विरोध करते हैं वे या तो स्वार्थी हैं, अथवा मूर्ख और जड़ के अलावा हठी भी। इसलिए जनता के कल्याण के लिए विरोधियों को दबा देना और अपने हाथ में सब अधिकार ले लेना चाहते हैं। इस तरह ये दस व्यक्ति अधिकार प्राप्त कर लेते हैं और लोक-कल्याण के उपाय आजमाने बैठते हैं। धीरे-धीरे इन दस की समिति अनुभव करती है कि इन सब की भी समझदारी एक-सी नहीं है, और किसी एक की राय से ही काम करना आवश्यक है; अधिकांश अधिकार उसे सौंप देने चाहिएं, तथा औरों को उसकी आज्ञाओं को वफादारी से मानना चाहिए। इस तरह

'डिक्टेटरशिप' आ जाती है। और जिस जन-कल्याण के नाम पर इन दस ने और विरोधियों को दबा देना अच्छा समझा, उसी जन-कल्याण के नाम पर इन दस में से उस "डिक्टेटर" का कोई विरोध करे, तो उसे भी दबा देना आवश्यक मालूम होता है। मतलब यह कि जब तक एक समूह मानव-संस्कारों के परिवर्तन के स्थान पर बल-प्रयोग को जन-कल्याण का या अपने उद्देश्य की सिद्धि का अन्तिम उपाय मानता है, तब तक ज़ुल्मी 'डिक्टेटरशिप' और उस के फलस्वरूप एक बलवान् दल का प्रभुत्व और अन्त में वर्ग-निर्माण हुए बिना नहीं रहेगा।

यह न माना जाय कि मैं इन विचारों को समाजवाद के मूल-भूत सिद्धान्त का विरोध करने के लिए, अथवा वर्तमान प्रणाली के समर्थन के लिए प्रकट कर रहा हूं। मेरा विश्वास हो गया है कि बलात्कार की नींव पर खड़ी हुई किसी भी प्रकार की राज्य-प्रणाली से मानव-जाति अपने ध्येय के अन्त तक नहीं पहुंच सकेगी। फिर भी, वर्तमान प्रणाली को तो हटाना ही होगा। लेकिन इन विचारों को प्रकट करने में मेरा हेतु यह है कि समाजवादी का खयाल इस बात पर जाय कि उसे विचार में और भी गहरे जाना होगा। ऊपरी परिवर्तनों से—वे क्रान्तिकारी हों तो भी—काम नहीं चलेगा। यह समस्या केवल किसी विशेष प्रकार की राज्य-प्रणाली या अर्थ-व्यवस्था के कायम कर देने से नहीं, बल्कि मानव-संस्कारों के परिवर्तन से हल होगी। समाजवाद के ध्येय को सफल करने के लिए मनुष्य को व्यक्तिवादी न रहकर समाजधर्मी बनना होगा। पड़ोसी का चाहे कुछ भी हो, पर अपना विकास, भोग, आराम, यश, मोक्ष आदि सिद्ध कर लेना व्यक्तिधर्म नहीं, बल्कि व्यक्ति-वादित्व है। खुद का चाहे कुछ भी हो, पर पड़ोसी का विकास, भोग, आराम, यश, मोक्ष, आदि सिद्ध हो, तथा अपने

विकास, भोग, आराम, यश, मोक्ष आदि के प्रयत्न द्वारा पड़ोसी को लाभ हो, यह समाजवादित्व नहीं, बल्कि समाज धर्म है। समाज-धर्मी परिश्रम को आफत नहीं समझता। मेरी दृष्टि में परिश्रम को आफत समझना व्यक्तिवादित्व है। परिश्रम करने की शक्ति को आफत और शक्ति को विभूति समझना समाज-धर्म है।

अब हम स्वयं अपने हृदय से पूछें कि हम क्या चाहते हैं—समाजवाद या समाजधर्म ?

: १२ :

साहित्य का मूल

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

साहित्य का स्वरूप सदा परिवर्तित होता रहता है। भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न आदर्शों की सृष्टि होती है। मनुष्य-जीवन में हम जो वैचित्र्य और जटिलता देखते हैं, वही साहित्य में पाते हैं। साहित्य की गति सदैव उन्नति ही के पथ पर नहीं अग्रसर होती। मानव-समाज के साथ-साथ उसका भी उत्थान-पतन होता रहता है। परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि जब कोई जाति अवनत दशा में है, तब उसका साहित्य भी अनुन्नत हो। प्रायः देखा भी जाता है कि जाति के अधःपतित होने पर उसमें श्रेष्ठ साहित्य की सृष्टि होती है। और जब जाति गौरव के उच्च शिखर पर पहुँच जाती है, तब उसका साहित्य श्रीहत हो जाता है। किसी-किसी का शायद यह ख्याल है कि जब देश में शांति विराजमान होती है, तभी सत्साहित्य का निर्माण होता है। पर साहित्य के इतिहास में हम देखा करते हैं कि युद्ध-काल में भी जब एक जाति वैभव की आकांक्षा से उद्दीप्त होकर नर-शोणित के लिए लोलुप हो जाती है, तब उसमें दैवीशक्ति-संपन्न कवि जन्म ग्रहण करता है। अब प्रश्न यह होता है कि साहित्य के उद्‌भव का कारण क्या है? क्या कवि की उत्पत्ति आकाश में विद्युत की भांति एक आकस्मिक घटना है? क्या देश और समाज के प्रतिकूल साहित्य की सृष्टि होती है? क्या कवि देश और काल की अपेक्षा नहीं करता? अथवा, क्या देश और काल के अनुसार ही साहित्य की रचना होती है?

इसम संदेह नहीं कि साहित्य में वैचित्र्य है। परन्तु वैचित्र्य में भी साम्य है। नदी का स्रोत चाहे पर्वत पर बहे, चाहे समतल भूमि पर, उसकी धारा विच्छिन्न नहीं होती। साहित्य का स्रोत भी भिन्न-भिन्न अवस्था में भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण करके अविच्छिन्न ही बना रहता है। उदाहरण के लिए हम हिन्दी-साहित्य ही की विचारधारा पर एक बार ध्यान देते हैं। महाकवि चंद से लेकर आज तक जितने कवि हुए हैं, सभी ने एक ही आदर्श का अनुसरण नहीं किया। विचार-वैचित्र्य के अनुसार हिन्दी काव्यों के चार स्थूल विभाग किये जा सकते हैं। हिन्दी साहित्य के आदि-काल में वीर-पूजा का भाव प्रधान था। उसके बाद अध्यात्म-वाद की प्रधानता हुई। फिर भक्त-कवि उत्पन्न हुए तद-नन्तर श्रृंगार-रस की उत्कृष्ट कविताएँ निर्मित हुईं। यह सब होने पर भी हिन्दी-साहित्य में हम एक विचार-धारा देख सकते हैं। बिहारी सूर नहीं हो सकते और न सूर चंद हो सकते हैं। परन्तु जिस भावना के उद्रेक से चन्द कवि ने अपने महाकाव्य की रचना की, वह सूर और बिहारी की रचनाओं में विद्यमान है। वह है हिन्दू-जाति का अधःपतन। महाकवि चन्द ने अपनी आंखों से हिन्दू-साम्राज्य का विनाश देखा। उन्होंने अपनी गौरव-रक्षा के लिए अपने काव्य का विशाल मंदिर खड़ा कर दिया। कबीर ने अपनी वचनावली में भारत की दशा का ही चित्र अंकित किया है। सूरदास के पदों में भी वही हाहाकार है। बिहारी के विलास वर्णन में भी विषाद है। वसंत ऋतु के अतीत गौरव का स्मरण-कर उसी के पुनरुद्भव की आशा में उसका मन अटका रहा। भूषण के वीररसात्मक काव्यों में भी हम शौर्य के स्थान में—शास्त्रों की व्यर्थ झनकार ही—सुनते हैं। पद्माकर ने निर्वाणो-न्मुख दीप-शिखा की भांति हिम्मत बहादुर की गुणावली का

गान किया है। कहां तक कहें, हिन्दी के आधुनिक कवियों की रच-नाओं में भी हम दुर्भिक्ष-पीड़ित भारत का चीत्कार ही सुनते हैं। दासत्व-बंधन में जकड़े और विजेताओं द्वारा पद-दलित हिन्दू-साहित्य में अन्य किसी भाव की प्रधानता हो भी कैसे सकती है? यदि हमारी विवेचना ठीक है, तो हम कह सकते हैं कि साहित्य का मुख्य विचारस्रोत समाज का अनुगमन कर सकता है, परन्तु समाज की हीनता पर साहित्य की हीनता नहीं अवलंबित है। अपनी हीनावस्था में भी हिन्दू-जाति ने ऐसे कवि उत्पन्न किये हैं, जो किसी भी समृद्धिशाली जाति का गौरव बढ़ा सकते हैं। सूर तुलसी और बिहारी ने शक्ति-हीन हिन्दू-जाति में ही जन्म ग्रहण किया था, परन्तु उनकी रचनाएं सदैव आदरणीय रहेंगी। सच तो यह है कि जब कोई जाति वैभव-संपन्न हो जाती है, तब उसके साहित्य का ह्रास होने लगता है। जान पड़ता है, पार्थिव वैभव से कविता-कला का कम संबंध है। जब तक देश उन्नतिशील है, तब तक उसमें साहित्य की उन्नति होती रहती है। जब वह अव-नतिशील होता है,तब साहित्य की गति बदल जाती है। परन्तु उस का वेग कम नहीं होता। वैभव की उन्नति से जब किसी जाति में स्थिरता आ जाती है, तभी साहित्य की अवनति होती है। यह नियम पृथ्वी की सभी जातियों के संबंध में, सभी कालों में, सत्य है। अब प्रश्न यह है कि ऐसा होता क्यों है? नीचे हम इसी प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा करेंगे।

कितने ही विद्वानों का विश्वास है कि जब मनुष्य प्रकृति के सौंदर्य-विकास से मुग्ध हो जाता है, तब वह अपने मनोभावों को व्यक्त करने की चेष्टा करता है। इसी सौंदर्य लिप्सा से साहित्य की सृष्टि होती है औल कला का विकास। परंतु इस सिद्धान्त के विरुद्ध एक बात कही जा सकती है। जब मनुष्य सभ्यता और ऐश्वर्य की

चरम सीमा पर पहुंच जाता है, तब तो उसकी सौंदर्यानुभूति और सौंदर्योपभोग की शक्ति का ह्रास नहीं होता, उलटे उसकी वृद्धि ही होती है। तब, ऐसी अवस्था में साहित्य और कला की खूब उन्नति होनी चाहिए। परन्तु फल विपरीत होता है। जाति के ऐश्वर्य से साहित्य मलिन हो जाता है और कला श्रीहत। जर्मनी के जीव-तत्त्वविशारदों का कथन है कि जो जाति सभ्यता की निम्नतम श्रेणी में रहती है, वह प्राकृतिक सौंदर्य से मुग्ध होने पर विस्मय से अभिभूत होती है। उस विस्मय से उसके हृदय में आतंक का भाव उत्पन्न होता है और आतंक की प्रेरणा से उपासना और धर्म की सृष्टि होती है। यह विस्मय क्यों होता है ? शास्त्रों के अनुसार द्वैतानुभूति ही विस्मय के उद्रेक का कारण है। मैं हूं, और मुझसे भिन्न विश्व है। मैं इस विश्व के विकास और विलास को देखकर मुग्ध होता हूं और प्रतिक्षण उसकी नवीनता का अनुभव कर विस्मय से अभिभूत होता हूं। नवीनता की अनुभूति से विस्मय प्रकट होता है।

जीव-तत्त्व-विशारद बिरचाउ (Birchow) ने मनुष्य के विस्मयोद्रेक का यही कारण बतलाया है। उनका कथन है कि बर्बर जातियों में न तो स्वतःसिद्धि है, न परंपरागत धारणाराशि, और न अंधविश्वास। उन जातियों के लोग जो कुछ देखते हैं, उसे पहले ही देखते हैं——प्रकृति उनके लिए नवीन ही रहती है। उस नवीनता से वे मुग्ध होते हैं, उसी से उन्हें विस्मय से भिन्न-भिन्न भावों की उत्पत्ति होती है, और यही भाव साहित्य का मूल है। यह भाव दो रूपों में व्यक्त होता है, अथवा यह कहना चाहिए कि इस भाव में दो भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। पहली भावना जिगीषा अर्थात् यह सोचना है कि हम प्राकृतिक शक्तियों को पराभूत करके उन्हें स्वायत्त कर लेंगे, और तब इस विस्मयागार पर हमारा अधि-

कार हो जायगा। दूसरी भावना तन्मयता अर्थात् यह सोचना है कि हम इस रूपसागर में निमग्न होकर नित्य-नवीनता को प्राप्त कर लेंगे। पहली भावना से विज्ञान की उत्पत्ति होती है, दूसरी भावना से धर्म और साधना के भाव प्रकट होते हैं, जो काव्य और साहित्य के मूल हैं। देश, काल, पात्र के अनुसार और भिन्न-भिन्न जातियों के पारस्परिक संघर्षण से वे भावनाएँ भिन्न-भिन्न रूप धारण करती हैं उन्हीं से साहित्य का स्वरूप सदैव परिवर्तित होता रहता है।

उक्त विवेचना से मालूम होता है कि साहित्य के दो प्रधान भेद हैं—एक विज्ञान, दूसरा कला। इसके मूलगत भाव भिन्न-भिन्न हैं। इनका विकास भी एक ही रीति से नहीं होता। विज्ञान पर बाह्य जगत् का प्रभाव खूब पड़ता है, और कला पर अन्त-र्जगत् का। धार्मिक आन्दोलन से कला का स्वरूप अवश्य परि-वर्तित होता है। उसी प्रकार पार्थिव समृद्धि की आकांक्षा से विज्ञान की गति तीव्रतर होती है। सभी दशों के साहित्य में यह बात स्पष्ट देखी जाती है। बौद्ध-युग में जब कवित्वकाल का अभाव हुआ, तब विज्ञान की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ। आधुनिक युग में भी विज्ञान की उन्नति से कविता का अवश्य ह्रास हुआ है। साहित्य के विकास में हमें एक दूसरी बात पर भी ध्यान देना चाहिए। वह यह कि कला में व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है और विज्ञान में व्यक्तित्व की कोई विशेषता नहीं लक्षित होती। शेक्स-पियर ने अपने पूर्ववर्ती कवियों से अनेक बातें ग्रहण की हैं। न्यूटन ने भी पूर्वार्जित ज्ञान के आधार पर अपना सिद्धान्त निर्मित किया है। न्यूटन के आविष्कार से विज्ञान को बड़ा लाभ पहुँचा है। संसार न्यूटन का सदा कृतज्ञ रहेगा। परन्तु यह सभी स्वीकार करेंगे कि विज्ञान अब पहले से अधिक समुन्नत हो गया है और न्य-

टन के आविष्कारों से भी महत्त्वपूर्ण आविष्कार हो गये हैं। विज्ञान के आदि-काल के लिए न्यूटन का आविष्कार कितना ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, अब ज्ञान की उन्नति से वह स्वयं उतना महत्त्व नहीं रखता। पर शेक्सपियर की रचना के विषय में यही बात नहीं कही जा सकती। शेक्सपियर ने अपने पूर्ववर्ती कवियों से जो बातें ग्रहण कीं, उनको उसने बिलकुल अपना बना लिया, और अपनी प्रतिभा के बल से उसने जो साहित्य तैयार किया, उसका महत्त्व कभी घटने का नहीं। संसार में शेक्सपियर से उत्तम नाटककार भले ही पैदा हों, पर उनकी कृति से शेक्सपियर के नाटकों का महत्त्व नहीं घटेगा। कहने का मतलब यह कि विज्ञान की जैसे-जैसे उत्तरोत्तर उन्नति होती जाती है, ठीक उसी तरह साहित्य की उन्नति नहीं होती। कवि चाहे छोटा हो चाहे बड़ा, उसकी रचना पर उसी का पूर्ण अधिकार रहेगा। जलाशय के समान वह एक स्थान पर ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। यदि वह क्षुद्र सर है, तो थोड़े ही दिनों में सूख जायगा। यदि उसमें अनन्त जलराशि है, तो चिरकाल तक बना रहेगा। परन्तु विज्ञान गिरि-निर्झर की तरह आगे ही बढ़ता जाता है। झरने एक दूसरे से मिल जाते हैं, इसी तरह कई झरनों के मिलने से एक नदी बन जाती है, और वह नदी ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती है, त्यों-त्यों बड़ी ही होती जाती है। विज्ञान, का स्रोत वैज्ञानिकों की कृति से बढ़ता ही जाता है, और अब उसने एक विशाल रूप धारण कर लिया है।

विज्ञान की उन्नति से साधारण नियमों की वृद्धि होती है। प्रकृति की रहस्यमयी मूर्ति वैसे ही नियमों से स्पष्ट होती है। सच पूछो, तो विज्ञान साधारण नियमों का समूह-मात्र है। परन्तु कला कोई नियम नहीं ढूंढ़ निकालती। कला जीवन की प्रकाशिका कही गयी है। अतएव जीवन-वैचित्र्य के कारण, कला का वैचित्र्य

सदैव रहेगा। वैचित्र्य के अभाव से कला का ह्रास होता है। मनुष्य-समाज जितना ही जटिल होगा, कला भी उतनी ही जटिल होगी, और जब मनुष्य-समाज सरलता की ओर अग्रसर होगा, तब कला में भी सरलता आने लगेगी। सभ्यता के आदि-काल में मानव-जीवन बहुत सरल होता है। अतएव तत्कालीन साहित्य और कला में सरलता रहती है। तब न तो शब्दों का आडम्बर रहता है, और न अलंकारों का चमत्कार। उस समय कला का क्षेत्र भी परिमित रहता है, उसमें रूप रहेगा, किन्तु रूप-वैचित्र्य नहीं ज्यों-ज्यों सभ्यता की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों मनुष्य जीवन जटिल होता जाता है, साथ ही कला भी जटिल होती जाती है। जीवन की विशालता पर कला का सौंदर्य अवलंबित है। जिस जाति का जीवन जितना ही विशाल होगा, उसकी कला भी उतनी ही अधिक उन्नत होगी, और उसका आदर्श भी उतना ही विशाल होगा। एक उदाहरण से हम इस बात को स्पष्ट करना चाहते हैं। प्राचीन काल की असभ्य-जातियों की बनायी हुई चित्रावली मिली है। उसमें और सभ्य ग्रीक जाति की शिल्पकला में क्या भेद है? ग्रीक जाति के समान उन असभ्य जातियों को भी जीवन के विषय में विस्मय होता था। रूप के पर्यवेक्षण में उन्हें भी आनन्द होता था, और उन भावों को बाह्यरूप देने के लिए वे भी चंचल थीं। उनके चित्रों में ये बातें हैं। परन्तु जीवन की क्षुद्रता में उन्होंने सिर्फ रूप देखा, रूप-वैचित्र्य नहीं। रूप-वैचित्र्य भी यदि उन्होंने देखा, तो उसमें सुषमा और सुसंगति (Harmony) नहीं देख सकीं। उसको ग्रीक लोगों ने देखा। ग्रीक लोगों की कला में अधिक सौंदर्य है, क्योंकि उनके जीवन का क्षेत्र भी अधिक विशाल था। यदि ग्रीक-जाति का जीवन और भी विशाल होता, तो उसकी कला की भी अधिक उन्नति होती। परन्तु ग्रीक जाति सिर्फ रूप-रस-ग्राह्य

जीवन म ही मुग्ध थी। आध्यात्मिक जीवन की ओर उसका लक्ष्य नहीं था। इस ओर हिंदू और चीनी-जाति का ध्यान था। इसलिए इन लोगों की कला का आदर्श अधिक ऊंचा था।

साहित्य के मूल में जो तन्मयता का भाव है, उसका एकमात्र कारण यही है कि मनुष्य अपने जीवन में संपूर्णता को उपलब्ध करना चाहता है—वह उसी में तन्मय होना चाहता है। परन्तु वह संपूर्णता है कहां ? बाह्य-प्रकृति में तो है नहीं। यदि बाह्य-जगत् में ही मनुष्य संपूर्णता को पा लेता, तो साहित्य और कला की सृष्टि ही न होती। वह संपूर्णता कवि के कल्प-लोक में और शिल्पी के मनोराज्य में है। वहीं जीवन का पूर्ण रूप प्रकाशित होता है। वहीं यथार्थ में सौंदर्य देखते हैं। उसी के प्रकाश में जब हम संसार को देखते हैं, तब मुग्ध हो जाते हैं। यह वही प्रकाश है, जिसके विषय में किसी कवि ने कहा है—

"The light which never was on land or sea,
The consecration and the poet's dream."

अर्थात् जो प्रकाश जल और स्थल में कहीं नहीं है, वह पवित्र होकर केवल कवि के स्वप्न में है।

कला के साथ हमारे जीवन का घनिष्ट सम्बन्ध है। मानव-जीवन से पृथक् कर देने पर कला का महत्त्व नहीं रहता। पर्सी ब्राउन नाम के एक विद्वान् का कथन है कि सौंदर्यानुभूति और सौंदर्य-सृष्टि की चेष्टा मानव-जाति की उत्पत्ति के साथ ही है। शिक्षा और सभ्यता के साथ सौंदर्यानुभूति का उन्मेष और विकास होता है। अंग्रेजी में जिसे Art-impulse कहते हैं, वह मनुष्य-मात्र में है। असभ्य जातियोंमें भी यह कला-वृत्ति विद्यमान है। कविता, संगीत और चित्र-कला के नमूने कंदराओं में रहने वाली जातियों में भी पाये जाते हैं। अपनी सौंदर्यानुभूति को

व्यक्त करने की यह स्वाभाविक चेष्टा ही कला का मूल है।

कला की उन्नति तभी होती है, जब व्यक्तिगत स्वातंत्र्य रहता है। जब मनुष्य को यथेष्ट सुखोपभोग की स्वतंत्रता रहती है, जब उसे अपने हृद्गत भावों के दबाने की जरूरत नहीं रहती, तभी वह इससे सौंदर्य-सृष्टि के लिए चेष्टा करता है। उल्लास के इस भाव में एक प्रकार की स्वच्छंदता रहती है। जब यह स्वछंदता संयत हो जाती है, जब उस भाव में सामंजस्य प्रबल हो जाता है, तब कला की सृष्टि होती है। सौंदर्य की अनुभूति के लिए सभी स्वच्छन्द हैं। पर कला-कोविद का कार्य शृंखला-बद्ध और प्रणाली-संगत होना चाहिए। मतलब यह कि सौंदर्य के उपभोग का सामर्थ्य तभी होता है, जब चित्त-वृत्ति स्वछन्द रहती हैं। परन्तु चित्त-वृत्ति को सर्वथा निरंकुश न रखकर संयत रखना चाहिए। तभी सौंदर्य का निर्मलतर रूप प्रकट होता है।

कुछ लोगों का ख्याल है कि जब देश में सर्वत्र शांति रहती है, तभी कला की उन्नति होती है। पर ब्राउन साहब की यह राय नहीं है। आपका कथन है कि जब समाज में शांति है, तब कला की उन्नति होगी ही नहीं। इसके विपरीत, जब समाज क्षुब्ध होता है, जब मनुष्य अपने हृदय में अशांति का अनुभव करने लगते हैं, जब देश में युद्ध होने लगता है, तब कला उन्नति के पथ पर अग्रसर होती है। जिगीषा का भाव मनुष्य की अंतर्निहित शक्ति को जागरित करता है। शांति के समय वह अपने ज्ञान का विस्तार कर सकता है; परन्तु नवीन सृष्टि नहीं कर सकता। विजय की इच्छा उसको नवीन रचना करने के लिए उत्साहित करती है। यही कारण है कि ग्रीस में युद्ध और अंतर्विप्लव-काल में ही कला की उन्नति हुई। योरप में गाथिक कला का विकास भी इसी तरह हुआ। यदि युद्ध-काल उपस्थित न होता, तो कदाचित् योरप में रेनेंसांस पीरियड—

पुनरुत्थान काल—भी न आता। युद्ध की इच्छा स चित्त-वृत्ति में स्वतंत्रता आ जाती है; और कला की उन्नति के लिए स्वतंत्रता आवश्यक है। जो जाति दासत्व की शृंखला से बंधी होती है, उसकी चित्त-वृत्ति का स्वातंत्र्य भी नष्ट हो जाता है। उसकी मानसिक शक्ति कुंठित हो जाती है। विजय की भावना से उद्दीप्त होकर मनुष्य जब अपनी शक्ति का अनुभव कर लेता है, तब वह प्रकृति के ऊपर भी अपना कर्तृत्व प्रकट कर देना चाहता है। तभी उसकी इच्छा होती है कि प्राकृतिक सौंदर्य पर भाव को प्रतिष्ठित कर उसे किस प्रकार अधिक करें। यहीं नहीं, वह सौंदर्य-विकास के साथ अनन्त और अज्ञेय को भी अपनी कल्पना के द्वारा अधिगम्य करना चाहता है।

ब्राउन साहब ने यहीं कला के साथ धर्म का भी सम्बन्ध बतलाया है। आपका कथन है कि प्रकृति के सौंदर्य के भीतर जो अनन्त रूप विद्यमान है, उसे धर्म ही विश्वास और कल्पना के द्वारा मनुष्य के लिए अनुभव-गम्य कर देता है। प्रातःकाल सूर्योदय की शोभा देखकर मनुष्य मुग्ध हो सकता है; परन्तु उसका वह मोह क्षणिक है। जब तक सूर्य की लालिमा है, तभी तक वह मोह है। परन्तु धर्म उसको बतलाता है कि इस प्रातःकालीन लालिमा में एक महाशक्ति विराजमान है—"तत्सवितुर्वरेण्यम्"। तब वह सौंदर्य-भावना स्थायी हो जाती है। यदि समाज में धर्म का और सौंदर्य का भाव है, तो कला की उन्नति अवश्य होगी।

भारतवर्ष में जब तक व्यक्तिगत स्वातंत्र्य था, धर्म की भावना प्रबल थी, तब तक कला की उन्नति हुई। स्वतंत्रता के लुप्त हो जाने पर भी भारतवासियों ने अपने धर्म की भावना से कला की रक्षा की। परन्तु अब स्वाधीनता और धार्मिक भावना खोकर वे अपनी कला भी खो बैठे।

मनुष्य ने संसार से अपना जो संबंध स्थापित किया है, वह उसके धार्मिक विश्वासों से प्रकट होता है। ज्यों-ज्यों उसके धार्मिक विश्वास परिवर्तित होते जाते हैं, त्यों-त्यों संसार से उसका संबंध भी बदलता जाता है । धार्मिक विश्वास में शिथिलता आने से उसका सांसारिक जीवन भी शिथिल हो जाता है; और उसकी यह शिथिलता उसके सभी कृत्यों में दिखलायी देती है । साहित्य में मनुष्यों के धार्मिक परिवर्तन का प्रभाव स्पष्ट लक्षित हो जाता है। यही नहीं, उससे साहित्य का स्वरूप भी बदल जाता है । धर्म से साहित्य का अच्छेद्य सम्बन्ध है । डाक्टर बीचर नाम के एक विद्वान् ने एक बार कहा था कि प्रत्येक भाषा और साहित्य का एक धर्म होता है। ईसाई-धर्मावलम्बी योरप के सभी सभ्य-देशों की भाषा का धर्म ईसाई-मत का ही अवलम्बन करता है। वहां ईसाई-धर्म ही प्रत्येक देश और जाति की विशेषता को ग्रहण कर साहित्य में विद्यमान है । बीचर साहब के इस मत का समर्थन कितने ही विद्वानों ने किया है। अब यह सर्व-सम्मत सिद्धान्त हो गया है कि जिस जाति का जो धर्म है, उस जाति की भाषा, सभ्यता और साहित्य उसी धर्म के अनुकूल होगा। इतना ही नहीं, भाषा के प्रत्येक शब्द, रचना-शैली, अलंकार के समावेश और रस के विकास में भी उसी धर्म की ध्वनि श्रुति-गोचर होगी। साहित्य से धर्म पृथक् नहीं किया जा सकता। चाहे जिस काल का साहित्य हो, उसमें तत्कालीन धार्मिक अवस्था का ही चित्र अंकित होगा।

हिन्दू-साहित्य में धर्म के तीन स्वरूप लक्षित होते हैं—प्राकृतिक, नैतिक और आध्यात्मिक। हिन्दू-साहित्य के आदि काल में धर्म की प्राकृतिक अवस्था विद्यमान थी, मध्य-युग में नैतिक अवस्था का आविर्भाव हुआ, और जब भारतीय समाज में धार्मिक

उत्क्रान्ति हुई, तब साहित्य में नवोत्थान-काल उपस्थित होने पर, आध्यात्मिक भावों की प्रधानता हुई।

धर्म की पहली अवस्था में प्रकृति की ओर हमारा लक्ष्य रहता है। तब हम बाह्य-जगत् में ही रहते हैं। उस समय हमारी साधना का केन्द्र-स्थल प्रकृति में ही स्थापित होता है। इस अवस्था में भी तन्मयता की ओर भारतीय कवियों का लक्ष्य रहता है। सभी देशों के प्राचीन साहित्य में प्रकृति की उपासना विद्यमान है। प्राचीन ग्रीक-साहित्य में प्राकृतिक शक्तियों को दिव्यस्वरूप देकर उनका यशोगान किया गया है। परन्तु उसमें हिन्दू-जाति की तन्मयता नहीं है। प्रकृति भारत के लिए आत्मीय थी, पशु-पक्षी, फूल-पत्ती और नदी-पहाड़ सभी से उनकी घनिष्टता थी। हिन्दू-साधक विश्व-देवता के साथ एक होकर रहना चाहते थे। विश्व के सभी पदार्थों में भगवान् की विभूति का दर्शन कर हिन्दू-जाति ने गंगा और हिमाचल की पूजा की, और मनुष्य को देवता के रूप में देखा। ग्रीक-साहित्य में एस्काइलीस, सफोक्लीश, इरोपिडिस, अरिस्टोफीनिस आदि की रचनाओं में भावुकता है। पर वह इस कोटि की नहीं। उनकी दौड़ दैव-पर्यन्त थी। वे एक अलक्षित शक्ति का अस्तित्व स्वीकार करते थे। परन्तु उनका लक्ष्य एक-मात्र इहलोक था। हिन्दुओं की दृष्टि में उनकी उपासना सात्विक नहीं, राजसिक थी। हिन्दुओं के मतानुसार कला के तीन आदर्श हो सकते हैं—जिससे केवल प्राण-रक्षा हो, वह तामसिक है। जब कला अपने ऐश्वर्य और शक्ति के द्वारा समस्त समाज पर प्रभुत्व स्थापित कर लेती है, और केवल सौन्दर्य की सृष्टि की ओर उसका लक्ष्य रहता है, तब वह राजसिक होती है। सात्विक कला में अनन्त के लिए सांत की व्याकुलता रहती है तब मनुष्य प्रकृति को जड़ नहीं समझता वह उसको अपने जीवन

में ग्रहण करना चाहता है, उसका रस रूप में परिणत करना चाहता है। प्रकृति के सात्विक उपासकों के लिए प्रकृति दयामयी और प्रेममयी रहती है। उससे मनुष्य का सम्बन्ध केवल ज्ञान द्वारा स्थापित नहीं होता। यथार्थ सम्बन्ध-सूत्र प्रेम होता है। ग्रीक-साहित्य में जिन देवताओं की सृष्टि की गयी है वे मानव-जाति से सर्वथा पृथक् थे। परन्तु हिन्दू-देवता मानवजाति से घनिष्ट संबंध रखते थे। वैद्यक ऋषियों ने विश्व के प्रति जैसी प्रीति प्रकट की है उससे यही मालूम होता है कि स्वर्ग की अपेक्षा पृथ्वी ही उनके लिए अधिक सत्य थी। एक स्थान पर पृथ्वी को सम्बोधन कर उन्होंने कहा है—"हे पृथ्वी, तेरे पहाड़, तेरे तुषारावृत पर्वत, तेरे अरण्य हमारे लिए सुखकर हों।" दूसरे स्थान में उन्होंने कहा है—"भूमि हमारी माता है, और हम पृथ्वी के पुत्र।" फिर लिखा है "हे माता भूमि, तेरा ग्रीष्म, तेरी वर्षा, तेरा शरद्, हेमन्त, शिशिर और वसंत, तेरा सुविन्यस्त ऋतु-सम्वत्सर, तेरे दिन और रात्रि तेरे वक्षस्थल की दुग्ध-धारा के समान क्षरित हों।" इन उद्‌गारों से विश्वप्रकृति के साथ उनका साहचर्य प्रकट होता है।

सभ्यता के विकास से प्रकृति के साथ यह घनिष्टता नहीं बनी रहती। मनुष्य जब क्रमशः इन्द्रियों से, मन से, कल्पना से और भक्ति से बाह्य-प्रकृति का संसर्ग लाभ कर लेता है, तब वह उससे परिचय की अन्तिम अवधि तक पहुंच जाता है। तब एकमात्र प्रकृति ही उसका आश्रय नहीं रह जाती। प्रकृति के भिन्न-भिन्न स्वरूपों में वह सदैव अस्थिरता देखता है। प्रकृति के शक्ति-पुंज में भी वह सम्पूर्णता नहीं उपलब्ध कर सकता। इससे उसको संतोष नहीं होता। फिर वह देखता है कि जिस चैतन्य-शक्ति का अनुभव उसने प्रकृति में किया, वह उसके अन्तर्जगत् में भी विद्यमान है। अतएव अब उसका लक्ष्य अन्तर्जगत् हो जाता है। यह प्रकृति

के स्थान में मनुष्य समाज को ग्रहण करता है। यही धर्म की नैतिक अवस्था है। यह अवस्था उपस्थित होने पर कवियों ने मानव-जीवन में सौंदर्य उपलब्ध करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने राम अथवा कृष्ण, सीता अथवा सावित्री के चरित्र में एक विचित्र प्रकार के सौंदर्य का अनुभव किया। तब उन्होंन देखा कि बाह्य-जगत् में सौंदर्य का पूर्ण विकास नहीं होता। जहां जीवन का प्रकाश पूर्ण मात्रा में विद्यमान है, वहां यथार्थ सौंदर्य है। अतएव कला का लक्ष्य मुख्यतः जीवन ही है, और निर्मलता ही सौंदर्य है, पवित्र स्वभाव अधिक मनोमोहक है। रमणी-मूर्ति में मातृमूर्ति अधिक चित्त आकृष्ट करती है। पुरुषों में शौर्य, दया और दाक्षिण्य अधिक आदरणीय है। अतः मनुष्य के इन्हीं गुणों की पराकाष्ठा दिखलाने के लिए आदर्श चरित्रों की सृष्टि होने लगी। प्रकृति को अन्त में गौण स्थान मिल गया है। यदि वह है, तो मनुष्य के लिए। कुछ ने तो उसे मायाविन समझ कर सर्वथा त्याज्य समझ लिया है।

मानव-चरित्र के विश्लेषण में कवियों और साधकों ने ज्यों-ज्यों चरित्र की महत्ता देखी, त्यों-त्यों उन्होंने अन्तर्निहित शक्ति का अनुभव किया। उन्होंने यह अच्छी तरह देख लिया कि यदि इस शक्ति का पूर्ण विकास हो जाय तो मनुष्य देवोपम हो जाता है। राम, कृष्ण, बुद्ध और ईसा के चरित्रों में उन्होंने एक ऐसी महत्ता देखी, जो संसार में अतुलनीय थी। तब ये ही उनकी उपासना के केन्द्र हो गये। आजकल हम लोगों के लिए ये चरित्र अतीत काल के हो गये हैं परन्तु मध्य-युग के कवि और कला-कोविद इनका प्रत्यक्ष अनुभव करते थे। हमारे कवियों और साधकों के विषय में जो दन्तकथाएं प्रचलित हैं, उनमें यही बात कही जाती है कि उन्होंने भगवान् का साक्षात्कार प्राप्त किया। यह मिथ्या

नहीं है। यदि तुलसीदास और सूरदासजी अपने अंतःकरण में राम और कृष्ण का दर्शन न करते, तो उनकी रचनाओं में वह शक्ति भी न रहती, जो कि है । दांते ने स्वर्ग और नरक का ऐसा वर्णन किया है, मानो उसने सचमुच वहां की यात्रा की हो। उसके वर्णन में एक भी बात नहीं छूटने पायी। प्रत्यक्ष दर्शन न सही, परंतु प्रत्यक्ष अनुभव का यह अवश्य परिणाम है।

क्रमशः राम, कृष्ण, बुद्ध और ईसा के चरित्र आध्यात्मिक जगत् में लीन हो गये। संसार से पृथक् होकर उन्होंने भाव जगत् में अक्षय स्थान प्राप्त कर लिया। जो सौंदर्य और प्रेम की धारा उनके चरित्रों से उद्‌गत हुई थी, वह मानव-समाज में फैल कर विस्तृत हो गयी । कबीर, चैतन्य, दादू, मीराबाई आदि वैष्णव कवियों ने अंतर्निहित सौंदर्य-राशि को प्रकट करने की चेष्टा की है। उनकी आध्यात्मिक भावना का यह परिणाम हुआ कि अब प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर्जगत् के रहस्योद्‌घाटन करने का प्रयत्न किया जाता है। आस्कर वाइल्ड ने अपने एक ग्रन्थ में लिखा है कि बाह्य सौंदर्य उसे कितना ही मुग्ध क्यों न करे, वह सौंदर्य के पीछे एकात्म्य देखना चाहता है। संसार को जो सौंदर्य आप्लावित किए है, वह किसी एक ही स्थान में आबद्ध नहीं रह सकता । नीच और उच्च का भेद उसके लिए नहीं है। इसीलिए सभी स्थानों में उसकी खोज की जाती है। एक प्रसिद्ध विद्वान् का कथन है कि यदि यथार्थ वस्तु का संसर्ग इन्द्रिय और चैतन्य से हो सके, यदि हम स्वयं अपनी सत्ता और वस्तु-सत्ता के साथ प्रत्यक्ष संयोग प्राप्त कर सकें, तो कला का रहस्य जान लें। तब हम अपनी आत्मा के गम्भीरतम स्थल में अपने अंतर्जगत् के संगीत को सुन लें। यह संगीत कभी आनन्दमयी, कभी विषादपूर्ण, परन्तु सर्वदा नवीन ही, बना रहता है। यह हमारे चारों ओर व्याप्त है। हमारे

भीतर भी है। परन्तु हम इसका स्पष्ट अनुभव नहीं कर सकते। हमारे और विश्व-प्रकृति के बीच, हमारे और हमारे चैतन्य के बीच, एक परदा पड़ा हुआ है। आध्यात्मिक कवि उस परदे के भीतर से भी अन्तर्गत रहस्य को देख सकते हैं। परन्तु सर्व-साधारण के लिए वह परदा रुकावट है।

आधुनिक साहित्य में जिस अध्यात्मवाद की धारा बह रही है, उसकी गति इसी ओर है। वह मनुष्य-मात्र के चरित्र का विश्ले-षण कर उसमें आत्मा का सौंदर्य देखना चाहता है। यही भाव अब नव हिन्दू-साहित्य में भी प्रविष्ट हो रहा है। जड़-वाद के स्थान में आत्म-चिन्ता और आत्म-परीक्षा के द्वारा यदि मनुष्य अन्तःसौंदर्य का दर्शन कर सके, तो यह उसके लिए श्रेयस्कर ही है क्योंकि तभी वह पुनः शांति के पथ पर अग्रसर होगा।

: १३ :

दीनों पर प्रेम

श्री वियोगी हरि

हम नाम के ही आस्तिक हैं। हर बात में ईश्वर का तिरस्कार करके ही हमने 'आस्तिक' की ऊंची उपाधि पायी है। ईश्वर का एक नाम 'दीनबन्धु' है। यदि हम वास्तव में आस्तिक हैं, ईश्वर-भक्त हैं, तो हमारा यह पहला धर्म है कि दीनों को प्रेम से गले लगाएं, उनकी सहायता करें, उनकी सेवा करें, उनकी शुश्रूषा करें। तभी दीनबन्धु ईश्वर हम पर प्रसन्न होगा। पर ऐसा हम कब करते हैं? हम तो दीन-दुर्बलों को ठुकरा-ठुकरा कर ही आस्तिक या दीनबन्धु भगवान् के भक्त आज बने बैठे हैं। दीन-बन्धु की ओट में हम दीनों का खासा शिकार खेल रहे हैं। कैसे अद्वितीय आस्तिक हैं हम! न जाने क्या समझ कर हम अपने कल्पित ईश्वर का नाम दीनबन्धु रखे हुए हैं, क्यों इस रद्दी नाम से उस लक्ष्मी-कान्त का स्मरण करते हैं——

दीननि देखि घिनात जे, नहिं दीनन सों काम।
कहा जानि ते लेत हैं, दीनबन्धु कौ नाम॥

यह हमने सुना अवश्य है, कि त्रिलोकेश्वर श्रीकृष्ण की मित्रता और प्रीति सुदामा नाम के एक दीन-दुर्बल ब्राह्मण से थी। यह भी सुना है, कि भगवान् यदुराज ने महाराज दुर्योधन का अतुल आतिथ्य अस्वीकार कर बड़े प्रेम से गरीब विदुर के यहां साग-भाजी का भोग लगाया था। पर ये बातें चित्त पर कुछ बैठती नहीं हैं। रहा हो कभी ईश्वर का दीनबन्धु नाम, पुरानी सनातनी

बात है, कौन काटे ? पर हमारा भगवान् दीनों का भगवान् नहीं है। हरे, हरे ! वह उन घिनौनी कुटियों में रहने जायगा ? वह रत्न-जटित स्वर्ण-सिंहासन पर विराजने वाला ईश्वर उन भुक्खड़ कंगालों के फटे-कटे कम्बलों पर बैठने जायगा ? वह मालपुआ और मोहनभोग का भोग लगाने वाला भगवान् उन भिखारियों की रूखी-सूखी रोटी खाने जायगा ? कभी नहीं हो सकता। हम अपने बनवाये हुए विशाल राज-मंदिरों में उन दीन-दुर्बलों को आने भी न देंगे। उन पतितों और अछूतों की छाया तक हम अपने खरीदे हुए खास ईश्वर पर न पड़ने देंगे। दीन दुर्बल भी कहीं ईश्वर-भक्त होते सुने हैं ? ठहरो, ठहरो, यह कौन गा रहा है ? ठहरो, जरा सुनो। वाह ! तब यह खूब रहा।

मैं ढूंढता तुझे था जब कुंज और वन में,
तू खोजता मुझे था तब दीन के वतन में।
तू आह बन किसी की मुझको पुकारता था,
मैं था तुझे बुलाता संगीत में, भजन में।

तो क्या हमारे श्रीलक्ष्मीनारायण "दरिद्र-नारायण" हैं ? इस फकीर की सदा से तो यही मालूम हो रहा है। तो क्या हम भ्रम में थे ? अच्छा, अमीरों के शाही महलों में वह पैर भी नहीं रखता !

मेरे लिए खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू,
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में।

हजरत खड़े भी कहां होने गये।

बेबस गिरे हुओं के तू बीच में खड़ा था,
मैं स्वर्ग देखता था झुकता कहां चरन में।

तो क्या उस दीनबन्धु को अब यही मंजूर है कि हम अमीर लोग, धन-दौलत को लात मार कर उसकी खोज में दीन-हीनों की झोंपड़ियों की खाक छानते फिरें ?

× × ×

दीन-दुर्बलों को अपने असह्य अत्याचारों की चक्की में पीसने वाला धनी परमात्मा के चरणों तक कैसे पहुंच सकता है। धनान्ध को स्वर्ग का द्वार दीखेगा ही नहीं। महात्मा ईसा का यह वचन क्या असत्य है—

"यदि तू सिद्ध पुरुष होना चाहता है, तो जा, जो कुछ धन-दौलत तेरे पास हो, वह सब बेच कर कंगालों को दे दे। तुझे अपना खजाना स्वर्ग में सुरक्षित रखा मिलेगा। तब, आ और मेरा अनुयायी हो जा। मैं तुम से सच कहता हूं, कि धनवान् के स्वर्ग के राज्य में प्रवेश करने की अपेक्षा ऊंट का सुई के छेद में से निकल जाना कहीं आसान है।" सहजोबाई भी यही बात कह रही हैं—

"बड़ा न जानै पाइहै साहिब के दरबार।
द्वारे ही सूं लागिहै 'सहजो' मोटी मार॥"

किसानों और मजदूरों की टूटी-फूटी झोंपड़ियों में ही प्यारा गोपाल वंशी बजाता मिलेगा। वहां जाओ, उसकी मोहिनी छवि निरखो। जेठ-बैसाख की कड़ी धूप में मजदूर के पसीने की टपकती हुई बूंदों में उस प्यारे राम को देखो। दीन दुर्बलों की निराशा-भरी आंखों में उस प्यारे कृष्ण को देखो। किसी धूल भरे हीरे की कनी में उस सिरजनहार को देखो। जाओ, पतित, पददलित अछूत की छाया में उस लीला-विहारी को देखो।

× × ×

तुम न जाने उसे कहां खोज रहे हो! अरे भाई यहां वह कहां मिलेगा? इन मन्दिरों में वह राम न मिलेगा। इन मसजिदों में अल्लाह का दीदार मुश्किल है। इन गिरजों में कहां परमात्मा का वास है? इन तीर्थों में वह मालिक रमने का नहीं। गाने-बजाने से भी वह रीझने का नहीं। अरे, इन सब चटक-मटक में वह कहां? वह तो दुखियों की आह में मिलेगा। गरीबों की भूख में मिलेगा।

दीनों के दुःख में मिलेगा। वहां तुम खोजने जाते नहीं। यहां व्यर्थ फिरते हो!

दीनबन्धु का निवासस्थान दीन-हृदय है। दीन-हृदय ही मन्दिर है, दीन-हृदय ही मसजिद है, दीन-हृदय ही गिरजा है। दीन-दुर्बल का दिल दुखाना भगवान् का मन्दिर ढहाना है। दीन को सताना सबसे भारी धर्मविद्रोह है। दीन की आह समस्त धर्म-कर्मों को भस्मसात् कर देने वाली है। सन्तवर मलूकदास ने कहा है—

"दुखिया जनि कोइ दूखिये, दुखिये अति दुख होय।
दुखिया रोइ पुकारिहै, सब गुड़ माटी होय॥"

दीनों को सताकर, उनकी आह से कौन मूर्ख अपने स्वर्गीय जीवन को नारकीय बनाना चाहेगा, कौन ईश्वर-विद्रोह करने का दुस्साहस करेगा? गरीब की आह भला कभी निष्फल जा सकती है —

"'तुलसी' हाय गरीब की, कबहुँ न निष्फल जाय।
मरे बैल के चाम सों लोह भस्म ह्वै जाय॥"

और की बात हम नहीं जानते, पर जिसके हृदय में थोड़ा-सा भी प्रेम है, वह दीन-दुर्बलों को कभी सता ही नहीं सकता। प्रेमी निर्दय कैसे हो सकता है? उसका उदार हृदय तो दया का आगार होता है। दीन को वह अपनी प्रेममयी दया का सब से बड़ा और पवित्र पात्र समझता है। दीन के सकरुण नेत्रों में उसे अपने प्रेमदेव की मनमोहिनी मूर्ति का दर्शन अनायास प्राप्त हो जाता है। दीन की मर्म-भेदिनी आह में उस पागल को अपने प्रियतम का मधुर आह्वान सुनायी देता है। इधर वह अपने दिल का दरवाजा दीन-हीनों के लिए दिन-रात खोले खड़ा रहता है, और उधर परमात्मा का हृदय-द्वार उस दीन-प्रेमी का स्वागत

करने को उत्सुक रहा करता है। प्रेमी का हृदय दीनों का भवन है, दीनों का हृदय दीनबन्धु भगवान् का मन्दिर है, और भगवान् का हृदय प्रेमी का वास-स्थान है। प्रेमी के हृद्देश में दरिद्रनारायण ही एक मात्र प्रेम-पात्र है। दरिद्र-सेवा ही सच्ची ईश्वर-सेवा है। दीन-दयालु ही आस्तिक है, ज्ञानी है, भक्त है, और प्रेमी है। दीन-दुखियों के दर्द का मर्मी ही महात्मा है। गरीबों की पीर जाननेहारा ही सच्चा पीर है। कबीर ने कहा है——

"'कबिरा' सोई पीर है, जो जानै पर-पीर।
जो पर-पीर न जानई, सो काफिर बेपीर॥"

: १४ :

प्रेमचन्द

डा० नगेन्द्र

आज वर्षों बाद प्रेमचन्द के सर्वत: स्वीकृत श्रेष्ठतम उपन्यास 'गोदान' का एक बार फिर अध्ययन करने के उपरांत भी मेरी धारणा में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।

प्रेमचन्द का सबसे प्रधान गुण है उनकी व्यापक सहानुभूति। उनके व्यक्तित्व का मानव पक्ष अत्यन्त विकसित था। भारत की दीन-दु:खी जनता, गांव के अपढ़ और भोले किसान और शहर के शोषित मजदूर, निम्न-वर्ग के वे असंख्य श्रम-श्रांत वर्ग, और वर्ण-व्यवस्था के शिकार नर-नारी तो उनके विशेष स्नेह-भाजन थे ही, परन्तु उनके अतिरिक्त अन्य वर्गों के प्राणी भी——उच्च वर्ग के राजा, उद्योगपति, जमींदार, और हुक्काम, उधर मध्यवर्ग के व्यवसायी, नौकरीपेशा लोग, समाज के पुराण-पन्थी पण्डित, पुरोहित भी उनकी सहानुभूति से वंचित नहीं थे। इसका अर्थ यह नहीं कि उनको सत् असत् की चेतना नहीं थी। नहीं, यह चेतना उनकी सर्वथा निर्भ्रांत थी और इस विषय में उनका दृष्टिकोण पूर्णतया निश्चित और स्थिर था। परन्तु उनके मन में घृणा नहीं थी। उनके मन में मानव के प्रति सहज आत्मीय भाव था। वे उसके पाप से अवगत थे। पाप का उन्होंने निर्मम होकर तिरस्कार किया है, परन्तु पाप को छोड़ उन्होंने कभी पापी से घृणा नहीं की। इसके लिए गांधी और गांधी से भी अधिक स्वयं गांधी को प्रभावित करने वाले विदेश के मानव-वादी लेखकों का प्रभाव काफी हद

तक उत्तरदायी था, किन्तु मूलतः तो यह उनके अपने स्वभाव-संस्कार की विशेषता थी। यह व्यक्ति स्वभाव से ही संत था——उसके हृदय की सहानुभूति पर मानव का सहज अधिकार था। उस युग के आदर्शवाद ने, जिसका मूल आधार था जनवाद, उनको निश्चय ही प्रभावित किया, परन्तु उनका यह आदर्शवाद अथवा जनवाद स्वभाव-जात था, युग-प्रथा-मात्र नहीं था। इसका उनके संस्कारों के साथ पूर्ण सामंजस्य था। इसीलिए इस धरातल पर पहुंचकर उनकी चेतना मानव के सभी भेदों से मुक्त हो जाती थी। प्रगतिवादियों ने अपने मानव मतवाद की सिद्धि के लिए व्यर्थ ही उन पर वर्ग-चेतना का आरोप कर दिया है। परन्तु वास्तव में वे इस दोष से सर्वथा मुक्त थे। उन्होंने पूंजीपतियों और जमींदारों के दोषों को क्षमा नहीं किया, किन्तु साथ ही उनकी तकलीफ के प्रति भी वे निर्मम नहीं थे। सामाजिक और आर्थिक आवरण के नीचे आखिर पूंजीवादी भी तो मनुष्य है, जो उसी तरह दुःख-दर्द का शिकार है जिस तरह मजदूर। राजनीतिक दलबन्दी में आकर अपने मन में इस तरह के ख़ाने बना लेना कि उसके दुःख-दर्द का वहां प्रवेश ही न हो सर्वथा अप्राकृतिक एवं अमानवीय है, और जिनके हृदय में इस तरह का विभाजन संभव होता है उनकी मानवता हार्दिक न होकर बौद्धिक होती है, या प्रदर्शन-मात्र। क्योंकि मनोविज्ञान की दृष्टि से यह संभव नहीं है कि एक की विवशता हमें करुणार्द्र करे और दूसरे की न करे। जिनकी सहानुभूति पर राजनीतिक बुद्धिवाद का अंकुश रहता है वे सहानुभूति का दम्भ करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रेमचन्द की सहानुभूति ऐसी नहीं थी। पापी को उन्होंने क्षमा नहीं किया, शोषण के अपराधों की उन्होंने कहीं भी उपेक्षा नहीं की। उनके उपन्यासों में दंड का निषेध नहीं है——उनमें एक ओर बहिष्कार से लेकर कारा-

वास और मृत्यु तक और दूसरी ओर उपवास आदि से लेकर आत्म-घात तक का दंड है। परन्तु सहानुभूति का अभाव किसी भी अवस्था में नहीं है। प्रेमचन्द कहीं भी कठोर नहीं होते और कहीं भी दम्भ नहीं करते। यह उनके व्यक्तित्व की अपूर्व विजय थी।

इसी व्यापक सहानुभूति के कारण उनके साहित्य का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। गांधी-युग के प्रथम तीन चरणों के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और साम्प्रदायिक जीवन के सभी पहलुओं और समस्याओं का जितना सांगोपांग और सटीक चित्रण प्रेमचन्द में मिलता है वैसा हिन्दी के तो किसी साहित्यकार में मिलता ही नहीं है, भारत के अन्य किसी साहित्यकार में भी मिलता है, इस में संदेह है। साधारणतः प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव की सीमाएं होती हैं—जीवन के कुछ रूपों में वह रम सकता है कुछ में नहीं; परन्तु प्रेमचन्द की सहानुभूति इतनी व्यापक थी, उनका हृदय इतना विशाल था कि जीवन के सभी रूपों के प्रति उसमें राग था। उनकी प्रतिभा कई अंशों में महाकाव्यकार की प्रतिभा थी। इसीलिए उन्हें जीवन की समग्रता के प्रति राग था और मानव के सभी रूपों के प्रति ममत्व था। विविध वर्ग, जाति, स्वभाव, संस्कार, सामाजिक स्थिति, व्यवस्था आदि के जितने अधिक पात्र प्रेमचन्द में मिलते हैं, उतने औरों में नहीं। आप हिन्दी के नये उपन्यासकारों से—जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल, इलाचन्द से—उनकी तुलना कीजिए, एक ओर विशाल जन-समुद्र है दूसरी ओर व्यक्तियों के सरोवर-मात्र। शरत्, यहां तक कि रवीन्द्र का भी क्षेत्र अपेक्षाकृत अत्यंत सीमित है।

जीवन के इस समग्र-ग्रहण का परिणाम यह हुआ है कि प्रेमचन्द ने उपन्यासों में अपने युग अर्थात् गांधी-युग के तीन चरणों के सामाजिक, राजनीतिक जीवन का अत्यंत पूर्ण इतिहास दे दिया

है। वास्तव में जिस समय उत्तर भारत के इतिहास के इस काल-खंड का सामाजिक इतिहास लिखा जायगा, उस समय प्रेमचन्द के उपन्यासों से अधिक व्यवस्थित सामग्री अन्यत्र नहीं मिलेगी। और, यदि इतिहासकार राजनीति से आतंकित होकर विवेक न खो बैठा, तो वह उन्हें भी पट्टाभि के इतिहास और नेहरू और राजेन्द्र बाबू की जीवनियों से कम महत्त्व नहीं देगा। इसके मूलतः दो कारण हैं, एक तो यह कि प्रेमचन्द ने अत्यन्त सचेत होकर अपने साहित्य को युग-जीवन का माध्यम बनाया है, दूसरे यह कि उन्होंने युग-धर्म के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करते हुए सर्वांग जीवन को ग्रहण किया है।

प्रेमचन्द का दूसरा प्रमुख गुण है उनका अत्यंत स्वस्थ और साधारण व्यक्तित्व। साधारण का प्रयोग मैं यहां 'नार्मल' के अर्थ में कर रहा हूं। उनका दृष्टिकोण मनोग्रन्थियों से रहित सर्वथा ऋजु-सरल था। उसमें प्रवृत्तियों का स्वस्थ संतुलन और अतिचार एवं अविचार का अभाव था। मनोग्रन्थि से अभिप्राय उस मनोवैज्ञानिक स्थिति से है जो उचित रीति से विचार करने, उचित रीति से अनुभव करने और उचित रीति से जीवन-यापन करने में बाधक होती है। ये मनोग्रन्थियां प्रायः दो प्रकार की होती हैं, अर्थ-मूलक और काम-मूलक। प्रेमचन्द के सम्पूर्ण साहित्य पर आर्थिक समस्याओं का प्रभुत्व है। गत युग के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में आर्थिक विषमताओं के जितने भी रूप सम्भव थे, प्रेम-चन्द की दृष्टि उन सभी पर पड़ी और उन्होंने अपने ढंग से उन सभी का समाधान प्रस्तुत किया है। परन्तु उन्होंने अर्थ-वैषम्य को सामाजिक जीवन की ग्रन्थि नहीं बनने दिया। वह एक समस्या है जिसका समाधान भी उपस्थित है। उनके पात्र आर्थिक विषमताओं से पीड़ित हैं परन्तु वे बहिर्मुखी संघर्ष द्वारा उन पर विजय प्राप्त

करने का प्रयत्न करते हैं, मानसिक कुण्ठाओं के शिकार बनकर नहीं रह जाते। इसका मुख्य कारण यह है कि उनके स्रष्टा का दृष्टिकोण विवेक-प्रधान है वे अनुपात-ज्ञान कभी नहीं खोते; समस्या का समाधान उसे समझ सुलझाकर उसके मूल कारण को दूर करने से होगा, उसके द्वारा अभिभूत हो जाने से नहीं। यह सु-स्थिर विवेक और उसका आश्रयी अनुपात-ज्ञान प्रेमचन्द के दृष्टि-कोण का विशेष गुण है, वह किसी भी परिस्थिति में उनका साथ नहीं छोड़ता, और इसी कारण प्रेमचन्द में किसी रूप में अतिवाद नहीं मिलता। गांधी-दर्शन में आस्था रखते हुए भी उन्होंने कहीं भी उसके प्रति अनावश्यक, विवेकहीन उत्साह नहीं दिखाया है। गांधी-दर्शन के अहिंसा-सम्बन्धी अतिवादों को प्रेमचन्द ने सदैव अपनी यथार्थ-दृष्टि द्वारा अनुशासित रखा है और उसकी आध्यात्मिकता को ठोस भौतिक सिद्धांतों द्वारा। उधर किसानों और मजदूरों के प्रति उनके हृदय में अगाध सहानुभूति है; वास्तव में शोषित-वर्ग का इतना बड़ा हिमायती हिन्दी में दूसरा नहीं है। परन्तु जमींदारों और पूजीपतियों के प्रति भी यह कला-कार अपना संतुलन नहीं खो बैठा——उनके दोषों पर तीखा प्रकाश डालते हुए भी वह उनके गुणों को सर्वथा नहीं भुला बैठा। किसानों और मजदूरों में अपने सामाजिक और राजनीतिक स्वत्वों के प्रति चेतना जगाने का प्रयत्न उन्होंने अपने सभी उपन्यासों में किया है; परन्तु इस प्रयत्न के भावात्मक रूप को ही ग्रहण किया है, अभावात्मक रूप को नहीं। कहीं भी उन्होंने जमींदारों और किसानों के प्रति घृणा एवं प्रतिशोधके भाव को उभारना न्याय्य नहीं समझा। दूसरे शब्दों में, वर्ग-संघर्ष नाम की वस्तु को एक मोहक रूप देकर उन्होंने कहीं भी स्वतंत्र महत्त्व नहीं दिया। संघर्ष जीवन का प्रबलतम साधन है। असत् को परास्त कर सत् की प्राप्ति के

लिए संघर्ष करना जीवन का ध्येय है, परन्तु वर्ग-संघर्ष को—मानव के प्रति मानव के संघर्ष को—एक सर्वग्रासी सत्य मानकर उसको आकर्षक रंगों में चित्रित करना और फिर संपूर्ण जीवन को उसी रंग में रंग कर देखना एक घातक अतिवाद है, जिसको प्रेमचंद ने सदा ही सतर्कता से बचाया है। उनके विवेक ने एकांगिता और अतिवाद से सदैव ही उनकी रक्षा की है।

उपयोगितावाद और नीतिवाद

साधारण नार्मल व्यक्ति निसर्गतः उपयोगितावादी और नीतिवादी होता है; और प्रेमचन्द के दृष्टिकोण में ये दोनों विशेषताएं अत्यंत मुखर हैं; दृष्टिकोण का संतुलन विचार-स्वातंत्र्य और मानसिक स्वातंत्र्य के प्रतिकूल पड़ता है, क्योंकि संतुलित दृष्टिकोण जीवन का एक विशेष स्तर निश्चित कर उससे अपने को बांध लेता है। वह हानि-लाभ के मान स्थिर कर लेता है और उन्हीं के अनुसार जीवन-यापन करता है। यही हानि-लाभ-गणना जीवन की प्रत्येक वस्तु के विषय में उसकी स्वीकृति और अस्वीकृति का आधार बन जाती है। स्वार्थ के संकुचित क्षेत्र में हानि-लाभ की यह भावना सर्वथा भौतिक और तुच्छ हो जाती है, परन्तु जीवन के व्यापक और उच्चतर स्तर पर यह नीतिवाद का रूप धारण कर लेती है। स्वार्थी व्यक्ति जहां अपने तुच्छ और तात्कालिक हानि-लाभ की गणना में उलझा रहता है, वहां मनीषी व्यक्ति जीवन की क्षुद्रताओं से ऊपर उठकर व्यापक और स्थायी हानि-लाभ की चिन्ता में रत रहता है। पहले दृष्टिकोण के लिए पारिभाषिक शब्द भूतवाद है और दूसरे के लिए नीतिवाद। उपयोगिता का आधार है हानि-लाभ-विचार, और नीतिवाद का आधार है उचित-अनुचित अथवा शिव-अशिव-

विचार। हानि-लाभ जब एक का क्षणिक हानि-लाभ न रह कर अनेक का हानि-लाभ हो जाता है तो उसे ही शिव-अशिव की संज्ञा दे दी जाती है और उपयोगितावाद नीतिवाद का रूप धारण कर लेता है । प्रेमचन्द का उपयोगितावाद इसी प्रकार का था। उसका मूल आधार था अधिक-से-अधिक व्यक्तियों का अधिक-से-अधिक हित। प्रेमचन्द के साहित्य पर सर्वत्र शिव का शासन है——सत्य और सुन्दर शिव के अनुचर होकर आते हैं। उनकी कला स्वीकृत रूप में जीवन के लिए थी और जीवन का अर्थ भी उनके लिए वर्तमान सामाजिक जीवन ही था। अतीत और आगत की रंगीन कल्पनाओं के लोभ में वे कभी नहीं पड़े। कला उनके लिए जीवन का एक प्रत्यक्ष साधन थी और उसका उपयोग उन्होंने व्यक्त रूप से निर्भ्रान्त होकर किया। कला की स्वतन्त्रता की कल्पना वे स्वप्न में भी नहीं कर सकते थे। केवल मनोरंजिनी कला को वे मदारियों और भांडों का खेल समझते थे। आनन्द की उनके लिए कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं थी; वह सामाजिक जीवन के मूल्यों से अनुशासित हित का ही एक अंग था। जो आनन्द सार्वजनिक हित में योग नहीं देता, वह क्षणिक उत्तेजना-मात्र है, उसका कोई मूल्य नहीं। यही बात वे सौंदर्य और सत्य (ज्ञान-विज्ञान) के लिए भी कहते थे। सुनते हैं प्राचीन वास्तुकला की इमारतों को देखकर वे कहा करते थे कि ये सब कला के नाम पर यों ही व्यर्थ पड़ी हुई हैं, इनका सार्वजनिक कार्यों के लिए उपयोग किया जाना चाहिए।

जीवन-दर्शन

प्रेमचन्द के जीवन-दर्शन का मूल तत्त्व है मानववाद । इस मानववाद का धरातल सर्वथा भौतिक है। दूसरे शब्दों में यह मानववाद सर्वथा व्यावहारिक है। प्रेमचन्द की सहानुभूति व्याव-

हारिक उपयोगिता की सीमा में आगे नहीं बढ़ती या यों कहिए कि इस सीमा से आगे बढ़ना प्रेमचन्द उचित नहीं समझते। भौतिक धरातल के नीचे जाकर आत्मा की अखंडता तक पहुंचने की उन्होंने जरूरत नहीं समझी—इसके अतिरिक्त यह उनके स्वभाव की सीमा भी थी। वहां तक उनकी गति भी नहीं थी। अतएव उनका मानववाद एकांत नैतिक है—उनकी सहानुभूति पर हिताहित-विचार अथवा शिवाशिव-विचार का नियंत्रण है। वे नैतिक मर्यादा की सीमाओं का अतिक्रमण कर मानवता के उस शुद्ध रूप का—जो सत्-असत् से परे है—शास्त्रीय शब्दावली में मानव की उस शुद्ध-बुद्ध आत्मा का जो अपने सहज रूप में गुणातीत है, साक्षात्कार करने में असमर्थ हैं। इसलिए प्रेमचन्द का मानववाद सुधारवाद से आगे नहीं बढ़ पाया। वास्तव में अपने अन्तिम रूप में मानववाद एक आध्यात्मिक दर्शन है और आत्मा की अखंडता का साक्षात्कार किये बिना मानववाद की प्रतिष्ठा सम्भव नहीं है। प्रेमचन्द स्वभाव से विचारक और कर्मठ थे, द्रष्टा नहीं थे। उनकी चेतना का धरातल व्यावहारिक ही रहा, दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक नहीं हो सका। उन्होंने इसमें विश्वास भी कभी नहीं किया क्योंकि अपने ध्येय के लिए उन्हें इसकी आवश्यकता ही नहीं हुई। उन्होंने तो अपने युग—जीवन का व्यावहारिक दृष्टि से अर्थात् राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से अध्ययन किया और उसी दृष्टि से उसके समाधान की भी खोज की। इसीलिए उनको मानव-वाद का व्यावहारिक रूप जनवाद ही स्वीकार्य हुआ। जनवाद के दो रूप हैं, एक दक्षिण पक्ष का जनवाद जो जागरण-सुधार-मूलक है, दूसरा वाम पक्ष का जनवाद जो क्रांति-मूलक है। अपने युग-धर्म के अनुकूल युग-पुरुष गांधी के प्रभाव में, प्रेमचन्द ने जागरण-सुधार-मूलक जनवाद को ही ग्रहण

किया । गांधीवाद के आध्यात्मिक पक्ष को वे नहीं अपना सके ।

आदर्श और यथार्थ

प्रेमचन्द के सम्बन्ध में आदर्श और यथार्थ विषयक भ्रांति प्राय: पायी जाती है । प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी में जिन उपन्यासों का प्रचार था उनमें अद्भुत और काल्पनिक साम्राज्य था । उस समय हिन्दी पाठकों के लिए उपन्यास का अर्थ था चित्र-विचित्र घटनाओं, दृश्यों एवं पात्रों का संकलन, जिनका इस लोक से नहीं, कल्पना-लोक से संबंध था । प्रेमचन्द के उपन्यासों में उन्हें अपना नित्य-प्रति का जीवन, अपने पास-पड़ोस के लोग, अपनी व्यावहारिक समस्याएं मिलीं । निदान उन्होंने इन उपन्यासों को यथार्थवादी उपन्यास कहना आरम्भ कर दिया । परन्तु जब इनका गंभीर अध्ययन होने लगा तो यह तुरंत ही स्पष्ट हो गया कि ये उपन्यास सभी निर्भ्रांत रूप से किसी-न-किसी आदर्श को लेकर चलते हैं । इनकी घटनाएं नैत्यिक और यथार्थ हैं परन्तु उनका नियोजन एक विशेष आदर्श के अनुसार किया गया है ।

इसी प्रकार उनके पात्रों के व्यक्तित्व-विकास में भी प्रकृति की मनमानी नहीं चलती वरन् कलाकार का ही आदर्श काम करता है । वास्तव में प्रेमचन्द जैसा सुधारवादी उपन्यासकार आदर्शवादी न होता तो क्या होता ? उनका जीवन-दर्शन, उनका नीतिवाद और उपयोगितावाद एक उत्कट आदर्शवाद के उपकरण मात्र हैं । परन्तु अब यथार्थ का प्रश्न उठता है । इसमें भी संदेह नहीं किया जा सकता कि प्रेमचन्द की कथाएं नित्य-प्रति की यथार्थ समस्याओं को लेकर चलती हैं । अर्थात् उनकी समस्याएं इलाचन्द्र जोशी अथवा मार्क्सवादी उपन्यासकारों की भांति सैद्धांतिक अथवा प्रतिज्ञात्मक (Hypothetical) नहीं हैं । वे सर्वथा

व्यावहारिक एवं यथार्थ हैं। इसी प्रकार उनके पात्र और घटनाओं तथा वातावरण, सभी में यथार्थता है। ऐसी स्थिति में उन्हें क्या समझा जाय? यही उलझन पैदा हो जाती है। परन्तु वास्तव में यह उलझन भ्रान्ति-मात्र है और इसका कारण यह है कि यथार्थ और आदर्श के विषय में ही लोगों को भ्रान्ति है। यथार्थवाद से तात्पर्य उस दृष्टिकोण का है जिसमें कलाकार अपने व्यक्तित्व को यथासंभव तटस्थ रखते हुए वस्तु को, जैसी वह है वैसी ही, देखता है और चित्रित करता है—अर्थात् यथार्थवाद के लिए वस्तुगत दृष्टिकोण अनिवार्य है। इसके विपरीत दो दृष्टिकोण हैं: एक रोमानी दूसरा आदर्शवादी। कलाकार जब वस्तु पर अपने भाव और कल्पना का आरोप कर देता है और उसको अपने स्वप्नों के रंगीन आवरण में लपेट कर देखता है और चित्रित करता है, तो उसका दृष्टिकोण रोमानी हो जाता है। इसी प्रकार जब वह वस्तु पर अपने भाव और विवेक का आरोप कर देता है और उसे अपने आदर्श के अनुकूल गढ़ता है तो उसका दृष्टिकोण आदर्शवादी बन जाता है। प्रायः ये दोनों दृष्टिकोण—रोमानी और आदर्शवादी—सम्मिलित ही रहते हैं। परन्तु यह सर्वथा अनिवार्य नहीं है कि रोमानी धरातल पर ही आदर्शवाद की प्रतिष्ठा संभव है। इसके विपरीत रोमानी दृष्टिकोण के लिए भी आदर्शवाद अनिवार्य नहीं है, क्योंकि भाव और कल्पना का प्राचुर्य होते हुए भी उसमें किसी नैतिक आदर्श की प्रतिष्ठा आवश्यक नहीं है। यह कलाकार के व्यक्तित्व पर निर्भर है कि उसे व्यवहार-जगत् प्रिय है या कल्पना-जगत्। प्रेमचन्द का व्यक्तित्व, जैसा मैंने कहा, साधारण एवं व्यावहारिक था। साथ ही उनके जीवन-आदर्श भी सर्वथा प्रत्यक्ष एवं सुनिश्चित थे। अतएव उन्होंने व्यावहारिक धरातल पर ही आदर्शवाद की प्रतिष्ठा की है।

सारांश यह है कि आदर्शवाद और यथार्थवाद में मूल विरोध है। पहले का आधार भावगत दृष्टिकोण है और दूसरे के लिए वस्तुगत दृष्टिकोण अनिवार्य है। आदर्शवादी यथार्थवादी नहीं होगा, उसके लिए रोमानी होना सहज है, परन्तु यह भी अनिवार्य नहीं है। वह कल्पना-विलासी और स्वप्न-द्रष्टा न होकर व्यावहारिक भी हो सकता है। उसके आदर्श कल्पना अथवा अतीन्द्रिय लोक के स्वप्न न होकर व्यवहार-जगत् की समस्याओं के नैतिक समाधान भी हो सकते हैं। प्रेमचन्द के आदर्शवाद का यही रूप है, वह रोमानी आदर्शवाद नहीं है, व्यावहारिक आदर्शवाद है। परन्तु यथार्थवाद नहीं है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि जो रोमानी नहीं है, वह यथार्थ ही हो। हां, यथार्थ उनकी शैली का अंग अवश्य है, उनके वर्णन अत्यन्त यथार्थ होते हैं, उनमें कल्पना के रूप-रंग न होकर वस्तु का याथातथ्य चित्रण रहता है। परन्तु दृष्टिकोण का निर्णय तो वर्णन की शैली से न करके उसके लक्ष्य से करना चाहिए। इसीलिए शैलीगत यथार्थ उनके आदर्शवाद के प्रतिकूल नहीं पड़ता, उसका अंग ही बन जाता है।

यहां तक मैंने तटस्थ रूप से, अपने वैयक्तिक रुचि-वैचित्र्य को पृथक् रखते हुए, प्रेमचन्द का महत्त्वांकन करने का प्रयत्न किया है। मैं स्वीकार करता हूं कि जीवन के प्रति व्यक्तिगत कुण्ठाओं से मुक्त स्वस्थ दृष्टिकोण एक बहुत बड़ा गुण है—विशेषकर आज के कुण्ठाग्रस्त जीवन में। अपने युग के सामाजिक, राजनीतिक जीवन का इतिहास प्रस्तुत कर सकना भी साधारण बात नहीं है। उधर अपनी कला का लोक-कल्याण के लिए उपयोग करते हुए नैतिक सदादर्शों की प्रतिष्ठा करना भी कलाकार का कर्त्तव्य है। और अंत में, इतना व्यापक दृष्टिकोण भी एक असाधारण विशेषता है। परन्तु फिर भी मेरा मन प्रेमचन्द को प्रथम श्रेणी का कलाकार

मानने को प्रस्तुत नहीं है। और इसका कारण यह है कि प्रेमचन्द में कुछ ऐसे गुणों का अभाव है जो इनसे महत्तर हैं और जीवन और साहित्य में, जिनका महत्त्व अपेक्षाकृत कहीं अधिक है।

प्रतिभा के अनेक अंग हैं तेजस्विता, प्रखरता, गहनता, दृढ़ता, सूक्ष्मता और व्यापकता। इनमें से प्रेमचन्द के पास केवल व्यापकता ही थी—शेष तीन गुण अपर्याप्त मात्रा में थे। वास्तव में नार्मल व्यक्तित्व की यह सहज सीमा है कि व्यापकता की तो उसके साथ संगति बैठ जाती है परन्तु तेजस्विता, गहनता, और तीव्रता अथवा बौद्धिक सघनता एवं दृढ़ता के लिए उसमें स्थान नहीं होता।

तेजस्विता प्रतिभा का स्पष्टतम रूप है। यह गुण गहन आंतरिक संघर्ष की अपेक्षा करता है। अन्तर्द्वन्द्व की रगड़ खाकर ही मनुष्य के व्यक्तित्व में तेज आता है—उसकी चेतना-शक्ति अत्यंत प्रखर हो जाती है और उसकी अनुभूति में तीव्रता आ जाती है। परन्तु प्रेमचन्द की साधारणता में इसके लिए अधिक स्थान नहीं है। व्यावहारिक व्यक्ति को सतर्क होकर इसको दबाना होता है क्योंकि व्यवहार-जगत् में तीव्र अनुभूतियां या प्रखर चेतना बाधक होती है। प्रेमचन्द के साहित्य में इस प्रकार की घटनाएं तथा पात्र, अत्यन्त विरल हैं जो पाठक की अनुभूति को उत्तेजित कर उसके मन में प्रखर चेतना उद्‌बुद्ध कर सकें। तीव्र अन्तर्द्वन्द्व के इसी अभाव के कारण वे आत्मा की गहराइयों में नहीं उतरते—उतर भी नहीं सकते। आत्मा की पीड़ा, जो जीवन और साहित्य में गंभीर रस की सृष्टि करती है, उनके साहित्य की मूल-प्रेरणा कभी नहीं बन पायी। वह उनके जीवन दर्शन के लिए अप्रासंगिक थी। उन्होंने जीवन की व्यावहारिक समस्याओं को ही सम्पूर्ण महत्त्व दे डाला है। परन्तु जीवन में तो इनसे गहनतम समस्याएं भी हैं। अंतर्जगत् की सम-

स्याएँ——जिन्हें प्रेमचन्द की व्यावहारिक दृष्टि ने यथेष्ट महत्त्व नहीं दिया। उनमें किसान-जमींदार, मजदूर-पूंजीपति, छूत-अछूत, शिक्षा-अशिक्षा, आदि बाह्य जगत् के द्वन्द्वों का जितना विस्तृत और सफल वर्णन है उतना श्रेय और प्रेय, विवेक और प्रवृत्ति, श्रद्धा और क्रांति, कर्त्तव्य और लालसा आदि अंतर्जगत् के द्वंद्वों का नहीं। यह बात नहीं कि ये प्रसंग आते ही नहीं। प्रेमचन्द के सभी उपन्यासों और कहानियों में ये प्रसंग आये हैं क्योंकि बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् का पूर्णतः पृथक्करण सम्भव नहीं। वे एक दूसरे से लिपटे हुए हैं। परन्तु प्रेमचन्द ने उनको वांछित महत्त्व नहीं दिया। पिछले युग की आर्थिक, राजनीतिक, और सामाजिक, विषमताओं को उन्होंने जितना महत्त्व दिया था उतना महत्त्व उसकी आध्यात्मिक विषमताओं को नहीं दिया। प्रेमचन्द उस युग की आध्यात्मिक क्लांति का सजीव चित्र नहीं दे पाये जिसने कि उसकी आत्मा को खोखला कर दिया था——जबकि पुराने विश्वास निर्जीव पड़ गये थे, नये विश्वासों में प्राण-प्रतिष्ठा नहीं हो पायी थी, और भारत की आत्मा निराधार-सी होकर कभी पीछे की ओर और कभी आगे की ओर दौड़ती थी। उन्होंने इस संघर्ष के बाह्य रूप को ही ग्रहण किया, शायद वहीं तक उनकी पहुंच थी। परिणाम यह हुआ कि प्रेमचन्द की दृष्टि सामयिक समस्याओं तक ही सीमित रही है। जीवन के चिरंतन प्रश्नों को उन्होंने बड़े ही हल्के हाथों से छुआ है या छुआ ही नहीं है। कोई भी कलाकार जीवन के शाश्वत रूपों का गहन दार्शनिक विवेचन किये बिना महान् नहीं हो सकता। परन्तु प्रेमचन्द का विचार-क्षेत्र विवेक से आगे नहीं बढ़ता। चिंतन और गंभीर दर्शन उसकी परिधि में नहीं आते। इसीलिए उनमें बौद्धिक सघनता और दृढ़ता का अभाव है, और उनके उपन्यासों के विवेचन आदि में एक प्रकार

का पोलापन मिलता है। विचारों की सघनता, जो गहन दार्शनिक विश्वास अथवा अविश्वास से आती है, उनमें नहीं है। यों तो विभिन्न समस्याओं का विवेचन करते समय अपने मत के प्रचार में उन्होंने पृष्ठ-के-पृष्ठ लिख डाले हैं, परन्तु उनका बौद्धिक तत्त्व साधारण विवेक-सम्मत तर्कवाद पर आश्रित होने के कारण काफी हलका होता है, और पाठक के विचार पर उसका कोई गंभीर प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरण के लिए प्रसाद के 'कंकाल' को लीजिए। उपन्यास-कला की दृष्टि से प्रेमचन्द के उपन्यास उससे कहीं उत्कृष्ट हैं परन्तु कंकाल का बुद्धिपक्ष निश्चित ही अधिक समृद्ध है। प्रसाद के विवेचन जहां दार्शनिक चिंतन पर आश्रित हैं, वहां प्रेमचन्द के विवेचन नैतिक-व्यावहारिक विवेक पर। व्यावहारिक व्यक्ति जिस प्रकार बाल की खाल निकालना पसन्द नहीं करता, काम-से-काम रखता है, इसी प्रकार प्रेमचन्द भी किसी प्रश्न के तल तक जाने का प्रयत्न नहीं करते। निदान उनमें सूक्ष्म चिंतन और विश्लेषण का भी प्रायः अभाव है।

वास्तव में ये साधारण व्यक्तित्व के सहज अभाव हैं। साधारण व्यक्तित्व कुल मिलाकर द्वितीय श्रेणी का व्यक्तित्व ही रहा है। महान् होने के लिए असाधारणता अपेक्षित है क्योंकि प्रतिभा भी तो असाधारण लोकोत्तर शक्ति का नाम है। जीवन की असाधारणताओं का अनुभव कर साधारणत्व की प्राप्ति करना एक बात है, और असाधारणताओं को बचाकर लीक पर चलते रहना दूसरी। पहला लोकोत्तर प्रतिभावान् महान् व्यक्तित्व का काम है, दूसरा साधारण व्यावहारिक व्यक्ति का। प्रेमचन्द पहली श्रेणी में नहीं आते।

: १५ :

श्रद्धा-भक्ति

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

किसी मनुष्य में जन-साधारण से विशेष गुण वा शक्ति का विकास देख उसके सम्बन्ध में जो एक स्थायी आनन्द पद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है उसे श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धा महत्त्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति के साथ-साथ पूज्य-बुद्धि का संचार है। यदि हमें निश्चय हो जायगा कि कोई मनुष्य बड़ा वीर, बड़ा सज्जन, बड़ा गुणी, बड़ा दानी, बड़ा विद्वान्, बड़ा परोपकारी, व बड़ा धर्मात्मा है तो वह हमारे आनन्द का एक विषय हो जायगा। हम उसका नाम आने पर प्रशंसा करने लगेंगे, उसे सामने देख आदर से सिर नवाएंगे, किसी प्रकार का स्वार्थ न रहने पर भी हम सदा उसका भला चाहेंगे, उसकी बढ़ती से प्रसन्न होंगे और अपनी पोषित आनन्द-पद्धति में व्याघात पहुंचने के कारण उसकी निंदा न सह सकेंगे। इससे सिद्ध होता है कि जिन कर्मों के प्रति श्रद्धा होती है उनका होना संसार को वांछित है। यही विश्वकामना श्रद्धा की प्रेरणा का मूल है।

प्रेम और श्रद्धा में अन्तर यह है कि प्रेम प्रिय के स्वाधीन कार्यों पर उतना निर्भर नहीं—कभी-कभी किसी का रूप मात्र, जिसमें उनका कुछ भी हाथ नहीं, उसके प्रति प्रेम उत्पन्न होने का कारण होता है। पर श्रद्धा ऐसी नहीं है। किसी की सुन्दर आंख या नाक देखकर उसके प्रति श्रद्धा नहीं उत्पन्न होगी, प्रीति उत्पन्न हो सकती है। प्रेम के लिए इतना ही बस है कि कोई मनुष्य हमें अच्छा लगे,

पर श्रद्धा के लिए आवश्यक यह है कि कोई मनुष्य किसी बात में बढ़ा हुआ होने के कारण हमारे सम्मान का पात्र हो। श्रद्धा का व्यापार-स्थल विस्तृत है; प्रेम का एकांत। प्रेम में घनत्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार। किसी मनुष्य से प्रेम रखने वाले दो ही एक मिलेंगे, पर उस पर श्रद्धा रखने वाले सैकड़ों, हजारों, लाखों क्या करोड़ों मिल सकते हैं। सच पूछिए तो इसी श्रद्धा के आश्रय से उन कर्मों के महत्त्व का भाव दृढ़ होता रहता है, जिन्हें धर्म कहते हैं और जिनसे मनुष्य समाज की स्थिति है। कर्ता से बढ़कर कर्म का स्मारक दूसरा नहीं। कर्म की क्षमता प्राप्त करने के लिए बार-बार कर्ता ही की ओर आंख उठती है। कर्मों से कर्ता की स्थिति को जो मनोहरता प्राप्त हो जाती है उस पर मुग्ध होकर बहुत-से प्राणी उन कर्मों की ओर प्रेरित होते हैं। कर्ता अपने सत्कर्म द्वारा एक विस्तृत क्षेत्र में मनुष्य की सद्वृत्तियों के आकर्षण का एक शक्ति-केंद्र हो जाता है। जिस समाज में किसी ऐसे ज्योतिष्मान् शक्ति-केंद्र का उदय होता है उस समाज में भिन्न-भिन्न हृदयों से शुभ भावनाएं मेघ-खंडों के समान उठकर तथा एक ओर एक साथ अग्रसर होने के कारण परस्पर मिलकर इतनी घनी हो जाती हैं कि उनकी घटा सी उमड़ पड़ती है और मंगल की ऐसी वर्षा होती है कि सारे दुःख और क्लेश बह जाते हैं।

हमारे अंतःकरण में प्रिय के आदर्श रूप का संघटन उसके शरीर या व्यक्ति मात्र के आश्रय से हो सकता है, पर श्रद्धेय के आदर्श रूप का संघटन उसके फैलाए हुए कर्म-तंतु के उत्पादन से होता है प्रिय का चिंतन हम आंख मुंदे हुए संसार को भुलाकर करते हैं, पर श्रद्धेय का चिंतन हम आंख खोले हुए, संसार का कुछ अंश सामने रखकर, करते हैं। यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है। प्रेमी प्रिय को अपने लिए और अपने को प्रिय के लिए संसार से अलग

करना चाहता है। प्रेम में केवल दो पक्ष होते हैं, श्रद्धा में तीन। प्रेम में कोई मध्यस्थ नहीं पर श्रद्धा में मध्यस्थ अपेक्षित है। प्रेमी और प्रिय के बीच कोई वस्तु अनिवार्य नहीं, पर श्रद्धालु और श्रद्धेय के बीच कोई वस्तु चाहिए। इस बात का स्मरण रखने से यह पहचानना उतना कठिन न रह जायगा कि किसी के प्रति किसी का कोई आनंदांतर्गत भाव प्रेम है या श्रद्धा। यदि किसी कवि का काव्य बहुत अच्छा लगा, किसी चित्रकार का बनाया चित्र बहुत सुन्दर जंचा और हमारे चित्त में उस कवि या चित्रकार के प्रति एक सुहृदय-भाव उत्पन्न हुआ तो वह भाव श्रद्धा है क्योंकि यह काव्य या चित्र-रूप मध्यस्थ द्वारा प्राप्त हुआ है।

प्रेम का कारण बहुत कुछ अनिर्दिष्ट और अज्ञात होता है, पर श्रद्धा का कारण निर्दिष्ट और ज्ञात होता है। कभी-कभी केवल एक साथ रहते-रहते दो प्राणियों में यह भाव उत्पन्न हो जाता है कि वे बराबर साथ रहें; उनका साथ कभी न छूटे। प्रेमी प्रिय के सम्पूर्ण जीवन-क्रम के सतत साक्षात्कार का अभिलाषी होता है। वह उसका उठना, बैठना, चलना, फिरना, सोना, पीना, सब कुछ देखना चाहता है। संसार में बहुत से लोग उठते-बैठते, चलते-फिरते हैं; पर सबका उठना-बैठना, चलना-फिरना उसको वैसा अच्छा नहीं लगता। प्रेमी प्रिय के जीवन से मिलाकर एक निराला मिश्रण तैयार करना चाहता है। वह दो से एक करना चाहता है। सारांश यह कि श्रद्धा में दृष्टि पहले कर्मों पर से होती हुई श्रद्धेय तक पहुंचती है और प्रीति में प्रिय पर से होती हुई उसके कर्मों आदि पर जाती है। एक में व्यक्ति को कर्मों द्वारा मनोहरता प्राप्त होती है, दूसरी में कर्मों को व्यक्ति द्वारा। एक में कर्म प्रधान है, दूसरी में व्यक्ति।

किसी के रूप को स्वयं देखकर हम तुरन्त मोहित होकर

उससे प्रेम कर सकते हैं, पर उसके रूप की प्रशंसा किसी दूसरे से सुन कर चट हमारा प्रेम नहीं उमड़ पड़ेगा। कुछ काल तक हमारा भाव लोभ के रूप में रहेगा, पीछे वह प्रेम में परिणत हो सकता है। बात यह है कि प्रेम एक मात्र अपने ही अनुभव पर निर्भर रहता है; पर श्रद्धा अपनी सामाजिक विशेषता के कारण दूसरों के अनुभव पर भी जगती है। रूप की भावना का बहुत कुछ सम्बन्ध व्यक्तिगत रुचि से होता है। अतः किसी के रूप और हमारे बीच यदि तीसरा व्यक्ति आया तो इस व्यापार से सामाजिकता आ गयी, क्योंकि हमें उस समय यह ध्यान हुआ कि उस रूप से एक तीसरे व्यक्ति को आनन्द या सुख मिला और हमें भी मिल सकता है। जब तक हम किसी के रूप का बखान सुनकर 'वाह वाह' करते जायेंगे तब तक हम एक प्रकार के लोभी अथवा रीझनेवाले या कद्रदान ही कहलाएंगे; पर जब हम उसके दर्शन के लिए आकुल होंगे, उसे बराबर अपने सामने ही रखना चाहेंगे, तब प्रेम का सूत्रपात समझा जायगा। श्रद्धा-भाजन पर श्रद्धावान् अपना किसी प्रकार का अधिकार नहीं चाहता, पर प्रेमी प्रिय के हृदय पर अपना अधिकार चाहता है।

श्रद्धा एक सामाजिक भाव है, इससे अपनी श्रद्धा के बदले में हम श्रद्धेय से अपने लिए कोई बात नहीं चाहते। श्रद्धा धारण करते हुए हम अपने को उस समाज में समझते हैं जिसके किसी अंश पर—चाहे हम व्यष्टि-रूप में उसके अंतर्गत न भी हों—जान बूझकर उसने कोई शुभ प्रभाव डाला। श्रद्धा स्वयं ऐसे कर्मों के प्रतिकार में होती है जिनका शुभ प्रभाव अकेले हम पर नहीं, बल्कि सारे मनुष्य-समाज पर पड़ सकता है। श्रद्धा एक ऐसी आनंदपूर्ण कृतज्ञता है जिसे हम केवल समाज के प्रतिनिधिरूप में प्रकट करते हैं। सदाचार पर श्रद्धा और अत्याचार पर क्रोध या

घृणा प्रकट करने के लिए समाज ने प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिनिधित्व प्रदान कर रक्खा है। यह काम उसने इतना भारी समझा है कि उसका भार सारे मनुष्यो को बांट दिया है, दो चार माननीय लोगों के ही सिर पर नहीं छोड़ रक्खा है। जिस समाज में सदाचार पर श्रद्धा और अत्याचार पर क्रोध प्रकट करने के लिए जितने ही अधिक लोग तत्पर पाये जायेंगे उतना ही वह समाज जागरित समझा जायगा। श्रद्धा की सामाजिक विशेषता एक इसी बात से समझ लीजिए कि जिस पर हम श्रद्धा रखते हैं उस पर चाहते हैं कि और लोग भी श्रद्धा रक्खें, पर जिस पर हमारा प्रेम होता है उससे और दस-पांच आदमी प्रेम रक्खें—इसकी हमें परवाह क्या, इच्छा ही नहीं होती; क्योंकि हम प्रिय पर लोभवश एक प्रकार का अनन्य अधिकार या इज़ारा चाहते हैं, श्रद्धालु अपने भाव से संसार को भी सम्मिलित करना चाहता है पर प्रेमी नहीं।

जब तक समष्टि रूप में हमें संसार के लक्ष्य का बोध नहीं होता और हमारे अंतःकरण में सामान्य आदर्शों की स्थापना नहीं होती तब तक हमें श्रद्धा का अनुभव नहीं होता। बच्चों में कृतज्ञता का भाव पाया जाता है। पर सदाचार के प्रति उस कृतज्ञता का नहीं जिसे श्रद्धा कहते हैं। अपने साथ किये जानेवाले जिस व्यवहार के लिए वे कृतज्ञ होते हैं उसी को दूसरों के साथ होते देख कर्ता के प्रति कृतज्ञ होना वे देर में सीखते हैं—उस समय सीखते हैं जब वे अपने को किसी समुदाय का अंग समझने लगते हैं। अपने साथ या किसी विशेष मनुष्य के साथ किये जाने वाले व्यवहार के लिए जो कृतज्ञता होती है वह श्रद्धा नहीं है। श्रद्धालु की दृष्टि सामान्य की ओर होनी चाहिए, विशेष की ओर नहीं। अपने संबंधी के प्रति किसी को कोई उपकार करते देख यदि हम कहें कि उस पर हमारी श्रद्धा हो गयी है तो यह हमारा

पाखंड है, हम झूठ-मूठ अपने को ऐसे उच्च भाव का धारण-कर्ता प्रकट करते हैं। पर उसी सज्जन को दस-पांच और ऐसे आदमियों के साथ जब हम उपकार करते देखें जिन्हें हम जानते तक नहीं और इस प्रकार हमारी दृष्टि विशेष से सामान्य की ओर हो जाय, तब यदि हमारे चित्त में उसके प्रति पहले से कहीं अधिक कृतज्ञता या पूज्य-बुद्धि का उदय हो तो हम श्रद्धालु की उच्च पदवी के अधिकारी हो सकते हैं। सामान्य रूप में हम किसी के गुण या शक्ति का विचार सारे संसार से संबद्ध करके करते हैं, अपने से या किसी विशेष प्राणी से संबद्ध करके नहीं। हम देखते है कि किसी मनुष्य में कोई गुण या शक्ति है जिसका प्रयोग वह चाहे जहां और जिसके प्रति कर सकता है।

श्रद्धा का मूल तत्त्व है दूसरे का महत्त्व-स्वीकार। अतः जिनकी स्वार्थ-बद्ध दृष्टि अपने से आगे नहीं जा सकती अथवा अभिमान के कारण जिन्हें अपनी ही बड़ाई के अनुभव की लत लग गयी है उनकी इतनी समाई नहीं कि वे श्रद्धा ऐसे पवित्र भाव को धारण करें। स्वार्थियों और अभिमानियों के हृदय में श्रद्धा नहीं टिक सकती। उनका अन्तःकरण इतना संकुचित और मलिन होता है कि वे दूसरों की कृति का यथार्थ मूल्य नहीं परख सकते।

स्थूल रूप से श्रद्धा तीन प्रकार की कही जा सकती है—१. प्रतिभा-संबंधिनी २. शील-सम्बन्धिनी और ३. साधन-संपत्ति-संबंधिनी। प्रतिभा से मेरा अभिप्राय अंतःकरण की उस उद्भाविका क्रिया से है जिसके द्वारा कला, विज्ञान आदि नाना क्षेत्रों में नयी-नयी बातें या कृतियां उपस्थित की जाती हैं। यह ग्रहण और धारणा-शक्ति से भिन्न है, जिसके द्वारा इधर-उधर से प्राप्त ज्ञान (विद्वत्ता) संचित किया जाता है। कला-संबंधिनी श्रद्धा के लिए श्रद्धालु में भी थोड़ी बहुत मार्मिक निपुणता चाहिए, इससे

उसका अभाव कोई भारी त्रुटि नहीं, वह क्षम्य है। यदि किसी उत्तम काव्य या चित्र की विशेषता न समझने के कारण हम कवि या चित्रकार पर श्रद्धा न कर सकें तो यह हमारा अनाड़ीपन है—हमारे रुचि-संस्कार की त्रुटि है। इसका उपाय यही है कि समाज कला-संबंधिनी मर्मज्ञता के प्रचार की व्यवस्था करे, जिससे विविध कलाओं के सामान्य आदर्श की स्थापना ज्ञान-समूह में हो जाय। पर इतना होने पर भी कला-संबंधिनी रुचि की विभिन्नता थोड़ी-बहुत अवश्य रहेगी। अश्रद्धालु रुचि का नाम लेकर ईर्ष्या या अहंकार के दोषारोपण से बच जाया करेंगे।

पर शील-संबंधिनी श्रद्धा प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। शील या धर्म के सामान्य लक्षण संसार के प्रत्येक सभ्य जनसमुदाय में प्रतिष्ठित हैं। धर्म ही से मनुष्य-समाज की स्थिति है अतः उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार का रुचि-भेद, मत-भेद आदि नहीं। सदाचारी के प्रति हम श्रद्धा नहीं रखते तो समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करते। यदि किसी को दूसरों के कल्याण के लिए भारी स्वार्थ-त्याग करते देख हमारे मुंह से 'धन्य-धन्य' भी न निकला तो हम समाज के किसी काम के न ठहरे, समाज को हमसे कोई आशा नहीं, हम समाज में रहने योग्य नहीं, किसी कर्म में प्रवृत्त होने के पहले यह स्वीकार करना आवश्यक होता है कि वह कर्म या तो हमारे लिए या समाज के लिए अच्छा है। इस प्रकार की स्वीकृति कर्म की पहली तैयारी है। श्रद्धा द्वारा हम यह आनन्द-पूर्वक स्वीकार करते हैं कि कर्म के अमुक-अमुक दृष्टांत धर्म के हैं, अतः श्रद्धा धर्म की पहली सीढ़ी है। धर्म के इस प्रथम सोपान पर प्रत्येक मनुष्य को रहना चाहिए, जिसमें जब कभी वह अवसर आए तब कर्म-रूपी दूसरे सोपान पर हो जाय।

अब रह गयी साधन-सम्पत्ति-सम्बन्धिनी श्रद्धा की बात, यहां

पर साधन-सम्पन्नता का ठीक-ठीक भाव समझ लेना आवश्यक है। साधन-सम्पत्ति का अनुपयोग भी हो सकता है, सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग भी हो सकता है। किसी को पद्य रचने की अच्छी अभ्यास-सम्पन्नता है। यदि शिक्षा-द्वारा उसके भाव उन्नत, हैं, वह सहृदय है तो वह अपनी इस सम्पन्नता का उपयोग मनोहर उच्चभावपूर्ण काव्य प्रस्तुत करने में कर सकता है। यदि उसकी अवस्था ऐसी नहीं है तो वह या तो साधारण, भाव-शून्य गद्य को गीतिका, शिखरिणी आदि नाना छन्दों में परिणत करेगा या अपनी भद्दी और कुरुचिपूर्ण भावनाओं को छन्दोबद्ध करेगा। उसके इस कृत्य पर श्रद्धा रखने वाले भी बहुत मिल जायेंगे। ऐसे व्यक्ति के प्रति जो श्रद्धा होती है वह साधन-सम्पन्नता पर ही होती है, साध्य की पूर्णता पर नहीं।

: १५ :

लछमा

श्रीमती महादेवी वर्मा

धुल-धुल कर धूमिल हो जाने वाले पुराने काले लहंगे को एक विचित्र प्रकार से खोंसे, फटी मटमैली ओढ़नी को कई फेंट देकर कमर से लपेटे और दाहिने हाथ में एक बड़ा-सा हंसिया संभाले लछमा, नीचे पड़ी घास और पत्तियों के ढेर पर कूद कर खिलखिला उठी। कुछ पहाड़ी और कुछ हिन्दी की खिचड़ी में उसने कहा, 'हमारे लिए क्या डरते हो' हम क्या तुम्हारे जैसे आदमी हैं ? हम तो जानवर हैं—जंगली जानवर—देखो हमारे हाथ पांव, देखो हमारे काम !

मुक्त हंसी से भरी यह पहाड़ी युवती न जाने क्यों मुझे इतनी भली लगती है।

धूप से झुलसा हुआ मुख ऐसा जान पड़ता है जैसे किसी कच्चे सेव को आग की आंच पर पका लिया हो। सूखी-सूखी पलकों में तरल-तरल आंखें ऐसी लगती हैं मानों नीचे आंसुओं के अथाह जल मे तैर रही हों और ऊपर हंसी की धूप से सूख गई हों ?

शीत सहते सहते ओठों पर फैली नीलिमा, सम दांतों की सफेदी से और भी स्पष्ट हो जाती है। रात दिन कठिन पत्थरों पर दौड़ते-दौड़ते पैरों में, और घास काटते-काटते और लकड़ी तोड़ते-तोड़ते हाथों में जो कठिनता आ गयी है उसे मिट्टी और गोबर की आर्द्रता ही कुछ कोमल कर देती है।

एक ऊंचे टीले पर लछमा का, पहाड़ के हृदय पर पड़े छाले जैसा छोटा, घासफूस का घर है।

बाप की आंखें खराब हैं, मां का हाथ टूट गया है और भतीजी भतीजे की माता परलोक वासिनी और पिता विरक्त हो चुका है। सारांश यह कि लछमा के अतिरिक्त और कोई व्यक्ति इतना स्वस्थ नहीं जो इन प्राणियों की जीविका की चिंता कर सके। और इस निर्जन में लछमा कौन-सा काम करके इतने व्यक्तियों को जीवित रखे, यह समस्या कभी हल नहीं हो पाती। अच्छे दिनों की स्मृति के समान एक भैंस है। लछमा उसके लिए घास और पत्तियां लाती है। दूध दुहती, दही जमाती और मट्ठा बिलोती है। गर्मियों में झोंपड़े के आस-पास कुछ आलू भी बो लेती है। पर इससे अन्न का अभाव तो दूर नहीं होता। वस्त्र की समस्या तो नहीं सुलझती।

लछमा की जीवन-गाथा उसके आंसुओं में भीग-भीग कर अब इतनी भारी हो गयी है कि कोई अथक कथावाचक और अचल श्रोता भी उसका भार वहन करने को प्रस्तुत नहीं।

सभ्यता के शेष चिह्नों से साठ मील दूर स्थित एक गांव में लछमा का विवाह हुआ था। उसकी ससुराल में बहुत जमीन थी, बहुत खेती होती थी, बहुत गाय, भैंस, बैल पाले थे। सारांश यह कि सभी कुछ बहुत था। पर कठोर भाग्य ने अपना व्यंग छिपाने के लिए एक स्थान निकाल ही लिया। उसका पति पागल तो नहीं कहा जा सकता, पर उसका मानसिक विकास एक बालक के विकास से अधिक नहीं हो सका। पागल लड़के की बुद्धिमती और परिश्रमी बहू को सास ससुर चाह सकते हैं, पर देवर जेठों के लिए तो वह एक समस्या ही हो सकती है, क्योंकि उसकी उपस्थिति में भाई की सम्पत्ति का प्रबन्ध करना भी आवश्यक हो जाता है और उसे आत्मसात् करने की इच्छा रोकना भी अनिवार्य हो उठता है।

अनेक अत्याचार सहकर भी जब लछमा ने अपना अधिकार छोड़ने की इच्छा नहीं प्रकट की तब एक बार वह इतनी अधिक पीटी गयी कि बेहोश हो गई और मृत समझ कर खड्ड में छिपा दी गयी। कैसे वह होश में आई और किस असहाय कष्ट से घसिट घसिट कर खड्ड के पार दूसरे गांव तक पहुंच सकी, यह बताना कठिन होगा। अपने सम्बन्धियों के अत्याचार के सम्बन्ध में उसने एक शब्द भी मुंह से न निकलने दिया, क्योंकि इससे उसके विचार में "घर की मरजाद चली जाती।" इसके अतिरिक्त अपने मारे पीटे जाने की बात अभिमानिनी लछमा कैसे बताती ? अचानक बहुत ऊंची शिला से गिर कर चोट खा गयी है, इस कल्पित कथा के असत्य में जिस साहस का परिचय मिलता था वह पीटे जाने की क्रूर कहानी के सत्य में दुर्लभ हो जाता।

मार्ग में तीन दिन तक कुछ खाने को न मिल सका। लछमा हंस कर कहती है, "जब बहुत भूखा हुआ तब पीली मिट्टी का एक गोला बना कर मुंह में रखा और आंख मूंद कर सोचा लड्डू खाया, लड्डू खाया। बस फिर बहुत-सा पानी पी लिया और सब ठीक हो गया।" मृत्यु की वैतरणी पार करके आयी हुई लछमा को देख कर जब नैहर वालों ने उसकी ससुराल वालों को दण्ड देना चाहा तब लछमा के तीव्र विरोध ने ही एक महाभारत का सूत्रपात रोका।

इस अभागी स्त्री की छाया में मानों दुःख स्थायी रूप में बस गया है। उसके लौटते ही भौजाई ने एक बालिका और एक मास भर के शिशु पुत्र को उसकी गोद में रखकर चिरकाल के लिए विदा ली। टूटे शरीर और फूटे भाग्य के साथ लछमा को जो पूर्ण और स्वस्थ हृदय मिला है उसी को लेकर उसने यह मधुर-कटु कर्त्तव्य भार संभाला। पर वह बेचारी सन्तान-पालन क्या जाने,

न तो आस-पास किसी छोटे बालक की माता ही मिल सकी और न नव शिशु कटोरे से दूध पीना ही सीख सका। तब लछमा की बुद्धि ने नया उपायखोज निकाला। वह अनुनय-विनय करके किसी से तेल की बोतल खाली करा लायी और उसमें कपड़ेकी बत्तीनुमा कुछ ढीली डाट लगाकर बच्चे को पानी मिला भैंस का दूध पिलाने लगी। ससुराल के अत्याचार से उसकी हड्डी-हड्डी ढीली हो गयी है। कुछ देर बैठने से रीढ़ का दर्द व्याकुल कर देता है और खड़े रहने से घुटनों में चिलक उठती है। पर उसने बिना किसी की सहायता के रात-रात भर खड़े रहकर दिन-दिन भर झुके रहकर अपनी भाभी की धरोहर को पाल लिया और आज तो वह शिशु इतना बड़ा हो गया है कि पालतू पशु की तरह बुआ का मूक अनुसरण करता फिरता है।

पहली बार लछमा को देखकर मेरे मन में उसे प्रयाग लाकर पढ़ाने लिखाने का विचार उठा था। मेरे प्रस्ताव के उत्तर में लछमा ने केवल अपने जीर्ण-शीर्ण घर की ओर देख कर सिर झुका लिया। उतने प्राणियों को वह किस के भरोसे छोड़ आती ? उस समय आशा थी कि पत्नी-वियोग से अव्यवस्थित भाई सम्भवतः लौट कर अपना कर्त्तव्य संभाल ले, पर उस आशा के दुराशा सिद्ध होने पर लछमा की उजली हँसी निराशा की छाया से मलीन नहीं हुई। वह सहज भाव से मुसकरा कर कह देती है कि जंगल में पढ़-लिख कर क्या होगा ? यहां तो पेड़ पर चढ़कर लकड़ियाँ और पत्तियाँ तोड़ना आना चाहिए। जब बूढ़े माँ-बाप नहीं रहेंगे और बच्चे बड़े हो चुकेंगे तब भगवान् उसे संसार में क्यों पड़ा रहने देंगे। फिर उसे अवश्य ही ऐसा जन्म मिलेगा जिसमें मेरे पास रह कर पढ़ लिख भी सके और कर्त्तव्य का पालन भी कर सके।

यदि मैं उसे पढ़ाना चाहूँ तो कम-से-कम दूसरे जन्म तक

प्रतीक्षा करूँ, इस विचित्र कथन में यदि कर्त्तव्य के प्रति अपनी सहज निष्ठा और जीवन के प्रति इतना सरल विश्वास न होता तो पगली लछमा पर हँसने को जी चाहता।

समता के धरातल पर सुख-दुःख का मुक्त आदान-प्रदान यदि मित्रता की परिभाषा मानी जावे तो मेरे पास मित्र का अभाव है।

अपने आनन्द के प्रकाशन के लिए मेरे निकट कला ही नहीं, पशु पक्षी, पेड़ पौधे भी बहुत महत्त्व रखते हैं, क्योंकि उनपर भी अपनी प्रसन्नता व्यक्त करके मुझे पूर्ण संतोष हो जाता है। रहा दुःख का प्रकटीकरण सो उसका लेशमात्र भी भार बनाकर किसी को देना मुझे अच्छा नहीं लगता।

दूसरे के सुख में एक प्रकार की निश्चिन्तता का अनुभव करके मैं दूर ही रह जाती हूं और दुःख-ग्रस्त से मेरे सम्बन्ध का आधार वात्सल्य ही रहता है।

पर कंटीली डालियों से छिदे हाथों और पैने पत्थरों से क्षत-विक्षत पैरों वाली, मलिन परिहास से उज्ज्वल लछमा के प्रति मेरे मन में सम्मानयुक्त सख्य की भावना ही प्रधान है। वह अपने दुःख में न इतनी अस्थिर है न हल्की कि उसे मेरे सहारे की आवश्यकता जान पड़े और अनेक अवसरों पर तो मैंने उसे अपने आप से बहुत गुरु और ऊँचा पाया है।

लछमा के व्यवहार में भी मुझे एक ऐसी समानता का अनुभव होता है जिसका अन्य पहाड़ी स्त्रियों में अभाव है। मेरे अपने बीच का अन्तर वह अपनी सहज ममता से भर लेती है, अतः मुझे उस तक पहुँचने के लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता।

मैं अच्छे-अच्छे व्यंजन खा सकती हूं, यह जानकर भी वह बड़े यत्न से ऐसी वस्तुएँ लाती ही रहती है जो जंगल में प्राप्त हैं। एक दिन वह, छत्ते के मोमी टुकड़ों के साथ हाल का निकाला

हुआ शहद लेकर दौड़ीआयी और तुरन्त खा लेने के लिए अनुरोध करने लगी । मीठा मुझे वैसे ही कम रुचता है, उस पर मधु को देखते ही मुझे मधुमक्खियाँ इस तरह स्मरण आने लगती हैं कि खाना कठिन हो जाता है । पर लछमा के अनुरोध की रक्षा के लिए कुछ चखना ही पड़ा ।

वहाँ तो अनेक व्यक्ति मधुमक्खियाँ पाल कर मधु का व्यापार करते हैं । पर लछमा न तो मधुमक्खियों को पालने के लिए काठ का बना घर खरीद सकती थी और न उसके घर की दीवारें ही ऐसी थीं जिसमें ऐसा घर बनाया जा सकता । पूछने पर पता चला कि घर की एक दीवार फट गयी है। लछमा को उसकी दरार में मधुमक्खियाँ पालने की इच्छा हुई । पर मक्खियाँ वहाँ पहुँचें तो क्योंकर, प्रतीक्षा करते-करते थक कर लछमा मधु-मक्खियों को पकड़ पकड़ कर उस दरार में बैठाने लगी । कई बार उनके काटने से उसके हाथ सूज गये । कई बार वे उस दरार के संकीर्ण घर को नापसन्द कर उड़ गईं, पर अन्त में कुछ उदार मक्खियों ने वहाँ बस कर बेचारी लछमा को कृतार्थ किया । उन्हीं के छत्ते का पहला मधु वह मेरे लिए लायी है ।

एक बार इसी प्रकार मेरे आने के दिन सब जगह घूम-घूम कर, वह मुझे विदा में देने के लिए काले अंगूरों का गुच्छा ले आयी थी । भैंस जब दूध देती है तब कभी काठ की प्याली में दूध, कभी दोने में दही और कभी पत्ते पर मक्खन लिए लछमा दौड़ती चली आती है और गोबर मिट्टी से गीले पैरों के द्वारा सूखे फर्श पर मटमैले चित्र से बनाती हुई मेरी चौकी के पास पहुँचकर थोड़ा-सा खा लेने के लिए हठभरा अनुरोध करने लगती है । आदि से अन्त तक मेरी शिक्षा छात्रावास में रह कर ही हुई है । बीच-बीच में घर जाने पर माँ ही खिलाने-पिलाने की विशेष

चिन्ता करती थीं, पर उनका चिन्ता करना नियम का अपवाद जैसा लगता रहा है, इसी से मैं ऐसी चिन्ता की अभ्यस्त नहीं हूँ।

पढ़ना समाप्त करते ही मैंने स्वयं अनेक विद्यार्थियों की चिन्ता करने का कर्तव्य स्वीकार कर लिया, अतः मुझे हठ कर खिलाने वाले व्यक्तियों का अभाव ही रहा है। लक्षमा का हठ करना मेरे आरोपित और कल्पित बड़प्पन को दूर कर मुझे फिर बचपन की सहज और स्वाभाविक स्थिति में पहुँचा देता है।

वह अपनी ममता में सरल है। अपने लिखने-पढ़ने में बहुत व्याघात पड़ते देख एक दिन मैंने खिजला कर लछमा से कहा, "अब आने पर मैं सामने वाले पहाड़ की सुनसान चोटी पर कुटी बनाकर रहूँगी जहाँ कोई न पहुँच सके।"

निरन्तर सब के भोजन की चिन्ता करते-करते वह जान चुकी है कि भोजन की समस्या सहज सुलझने वाली नहीं होती और बिना उसे सुलझाये संसार का कोई काम संभव नहीं। निर्जन में कहीं मैं भी इस समस्या में उलझ कर न रह जाऊँ, यही सोच कर उसने जो उपदेशगर्भित अनुरोध किया वह उसी के योग्य था। लछमा की इच्छा है कि जब उसकी भैंस की दो वर्ष की पड़िया चार की होकर दूध देने लगे तब मैं पहाड़ की चोटी पर जाकर रहूँ। तब एक भैंस का दूध बूढ़ी और बच्चों के काम आयेगा और दूसरी का मेरे। वह प्रतिदिन नियम से एक सेर दूध, एक सेर दही, दो चार आलू और लकड़ी आदि वहाँ पहुँचा आया करेगी। वह बोलेगी भी नहीं, देखेगी भी नहीं केवल दरवाजे पर सब कुछ रखकर लौट आया करगी। फिर जब मेरी मोटी पोथी लिखी जा चुके और मैं अकेली रहते-रहते ऊब जाऊँ तो लछमा, लछमा, पुकारते ही वह सौ काम छोड़ कर वहाँ जा पहुँचेगी और सब सामान, यहाँ तक की कुटी का

छप्पर भी ढोकर नीचे ले आवेगी। इस महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव के अन्त में जब लछमा बड़ी विनीत गम्भीरता से मेरे मुख की ओर देखने लगी तब मैं विस्मय से बोल ही न सकी। एकांत और निर्जन सहज प्राप्य है, मोट-मोटे पोथे लिख लेना भी कठिन नहीं, पर लछमा जैसा अकारण ममतालु सहायक दुर्लभ ही रहेगा।

लछमा का यह कथन कि उसके पास भाग्य की कमी है समझ की नहीं बहुत कुछ सत्य है।

एक बार मेरा हिमालय का चित्र बनाना देखते-दखते वह बोल उठी "सामान मिलता तो मैं ठीक-ठीक बर्फान उतार देती।" मैंने उपहास के भाव से प्रश्न किया, क्या-क्या चाहिए ? लछमा ने कुछ विचित्र भावभंगी से जो उत्तर दिया उसका अर्थ था कि उसे बड़ा-सा नीला काग़ज़ चाहिए और सफेद और हरा रंग। फिर वह एक बहुत ऊंची चोटी पर किसी समतल चट्टान के ऊपर अपना नीला काग़ज़ बिछा कर दिन भर बैठेगी और कहीं दीवार की तरह खड़े कहीं छप्पर की तरह फैले और कहीं मन्दिर के समान कलश-दार हिमालय को उतारेगी। नीला काग़ज़ आकाश रहेगा, सफेद से बर्फ बनेगी और हरे से देवदार के पेड़। छोटी लछमा की बुद्धि का इतना विशाल परिचय पाकर चकित होना ही स्वाभाविक था। मुझे सफेद काग़ज़ पर बड़े प्रयास से नीला आकाश बनाते देख उसने नीले काग़ज़ की बात सोच ली होगी।

पूछने पर पता चला कि बिना सिखाये ही लछमा को फूल पत्ती, बेल बूटे बनाने की इतनी चाह है कि वह अपना ही नहीं पड़ोस के घरों की दीवारों को भी गेरू और चावल से गोद चुकी है। उसकी चित्र-रचना में चाहे कुछ अर्थ न रहे पर बनाने वाली उंगलियों की अपटु परिश्रम और साधन-हीनता तो प्रत्यक्ष हो ही जाती है।

इसी प्रकार देखते-देखते वह कुछ-कुछ बुनना भी जान गयी है, पर उन सलाइयों के अभाव में बूढ़े बाप के लिए स्वेटर बुनने की इच्छा साकार न हो पाई। दूसरे से उसकी निराशा का कारण जानकर मैंने उसे वस्तुएँ मँगवा दीं अवश्य, पर यदि सर्दी में पिता की रक्षा का प्रश्न न होता तो वह उन सब को छोड़कर भाग खड़ी होती, इसमें सन्देह नहीं। मुझ पर उसका स्नेह कम नहीं है। पर उस स्नेह को साधन बना कर छोटे-छोटे स्वार्थ की सिद्धि भी उसे अभीष्ट नहीं रही।

साधारणतः असंख्य असुविधाएं और विविध अभाव पहाड़ी जीवन में, स्वार्थ भावना को बहुत स्थूल और स्पष्ट रूप दे देते हैं, पर लछमा के जीवन को मैंने इसका अपवाद ही पाया।

मुझे उसकी स्वाभाविक हँसी के पीछे छिपे आँसुओं को खोजना पड़ता है और उन आंसुओं के छिपे कारणों का पता लगाना पड़ता है। फिर अन्त में, "हम तो ऐसे ही जंगली हैं, हमें क्या चाहिए" आदि के द्वारा लछमा मेरा सारा परिश्रम निष्फल किये बिना नहीं रहती।

हृदय से इतनी स्वच्छ लछमा को बाहर से मलिन ही रहना पड़ता है। कभी-कभी तो अपनी मलिनता पर आप ही झुंझला कर वह कह उठती है, "मैं तो इतनी मैली हूं। मुझे भीतर मत आने दो। बाहर ही रोक दिया करो। देखो तो सारा का सारा घर कैसा लगने लगता है!" उसके इस प्रकार उद्‌गार स्वयं अपने ही प्रति हुआ करते हैं, क्योंकि उनके उपरान्त वह मुझे सफाई देने लगती है। पांव तो सवेरे ही मल-मल कर धोये थे पर आधे रास्ते से भैंस को घास डालने लौट जाना पड़ा। लहंगा तो कल पत्थर पर मोगरी से पीट-पीट कर छांटा था पर बच्चे ने मिट्टीभरे हाथ पोंछ दिये। ओढ़नी तो परसों झरने में धोकर सुखायी थी पर घास बांधने की

रस्सी बीच में टूट गयी इसी में बांध कर लाना पड़ा।

न जाने किस युग में लछमा के पास एक काठ की कंघी थी। फिर जब से वह खोयी तब से झरने में धोकर बहुत उलझे बालों को नोच कर फेंक देना ही उसका प्रसाधन हो गया है। मेरे यहां एक पुराने कंघे का उपहार पा लेना उसके लिए एक असम्भावित घटना हो गयी। उस कंघे को दराती के साथ कमर में खोंस कर वह पहाड़ के किस-किस कोने में किस-किस झरने की सहायता से शृंगार नहीं करती फिरी, यह बताना कठिन है, पर उसकी विचित्र केश-रचना-जनित प्रसन्नता देखकर आंसू आये बिना नहीं रहते।

शृंगार के असंख्य अभूतपूर्व साधनों से भरी बीसवीं शताब्दी में भी स्त्री के लिए इतनी तुच्छ वस्तु दुर्लभ है उसके दुर्भाग्य को कौन-सा नाम दिया जावे।

एक बार अन्य स्त्रियों से सुना कि लछमा न जाने क्या धूप-दीप करके उनकी सन्तान का अमंगल मनाती रहती है। पूछने पर पता चला कि वह सन्तान का तो नहीं पर कुछ आंखों का अमंगल अवश्य मनाती है। उसके घर न जाने कब की पुरानी और कीड़ों की खाई दुर्गा की तस्वीर है। सवेरे सांझ उसके सामने कुछ अंगारे रख कर और उन पर कुछ सूखी पर सुगन्धित पत्तियों की धूप डालकर वह कह लेती है कि जो उस पर बुरी दृष्टि डाले उसकी आंखें जल कर क्षार हो जावें।

दूसरों की आंखों का अमंगल चाहने से किसी पवित्रता की रक्षा नहीं होती, क्योंकि वास्तविक पवित्रता का प्रमाण तो यही है कि मलिन से मलिन दृष्टि भी उसका स्पर्श कर पवित्र हो जावे, इस सत्य को समझाना सहज नहीं था। पर लछमा को मेरे कथन के सूक्ष्म भाव तक पहुंचने में कठिनता नहीं हुई। तब से उसके धूप-दीप में अपनी ही नहीं सबकी कल्याण कामना रहती है।

यह पर्वत की कन्या जितनी निडर है उतनी ही निश्चल। जिस प्रकार अपनी दरांती के साथ ही वह अन्धेरी से अन्धेरी रात में भी मार्ग ढूंढ लेती है उसी प्रकार अपने निश्चय के साथ वह घोर से घोर विरोध में भी अटल रह सकती है।

कुछ वर्ष बाद लछमा के जीवित हो जाने का समाचार पाकर ससुराल के कुछ सम्बन्धी उसके अबोध पति को लेकर उसे बुलाने आये। उसने अपने बालकबुद्धि पति से अनुरोध किया कि वह अपने भाइयों को सब कुछ सौंप कर आ जावे और उसी के पास रहे। वह स्वयं भैंस की गोठ में पड़ी रहेगी पर पति के रहने के लिए एक अच्छी लिपी-पुती स्वच्छ कोठरी का प्रबन्ध करेगी। स्वयं चाहे मलिन दुर्गन्धित घास में पड़ी रहेगी पर उसके लिए गांव वालों से चारपाई मांग लावेगी। आप भूखी रहेगी पर रात दिन मजदूरी करके उसके भोजन का प्रबन्ध करेगी। लछमा के साथ उसका विवाह हुआ है, अतः उसे वह जीवन भर न छोड़ेगी। पर वह उसके घर नहीं जा सकती, क्योंकि वहां लोग उसे मार डालेंगे और यहां उसके माता-पिता भतीजा-भतीजी भूख से अपने आप मर जायेंगे।

सम्बन्धियों ने उसके पति को वहां न छोड़ा, क्योंकि उन्हें मर कर जीवित हो जाने वाली मायाविनी बहू की सच्चाई पर विश्वास नहीं।

लछमा के इस व्यवहार से आसपास असन्तोष की लहर-सी फैल गयी और वह अनेक प्रकार की चर्चा का आधार बनने लगी।

समाज के मनोविज्ञान का जैसा परिचय समतल में मिलता है वैसा ही पर्वत की विषम भूमि में।

एक पुरुष के प्रति अन्याय की कल्पना से ही सारा पुरुष-समाज उस स्त्री से प्रतिशोध लेने पर उतारू हो जाता है और एक स्त्री के साथ क्रूरतम अन्याय का प्रमाण पाकर भी सब स्त्रियां, उस

के अकारण दण्ड को अधिक भारी बनाये बिना नहीं रहतीं।

इस तरह पग-पग पर पुरुष से सहायता की याचना न करने वाली स्त्री की स्थिति कुछ विचित्र-सी है। वह जितनी ही पहुँच के बाहर होती है पुरुष उतना ही झुंझलाता है और प्रायः यह झुंझलाहट मिथ्या अभियोगों के रूप में परिवर्तित हो जाती है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि जो अप्राप्य है उसी को प्राप्त प्रमाणित करके हमें संतोष होता है, जो प्राप्त है उसे प्राप्त प्रमाणित करने की आवश्यकता ही नहीं रहती।

पर खड़ा हुआ व्यक्ति यदि अपने गिरने की घोषणा सुनते-सुनते खड़े होने के प्रयास को व्यर्थ समझने लगे तो आश्चर्य क्या ? इसी कारण जब तक स्त्री स्वभाव से इतनी शक्तिशालिनी नहीं होती कि मिथ्या पराभव की घोषणा से विचलित न हो तब तक उसकी स्थिति अनिश्चित ही रहती है।

लछमा में मैंने अविचलित रहने की शक्ति भी देखी और बड़े-से-बड़े अपकार को क्षमा कर देने की उदारता भी। न वह दूसरों की निन्दा करके हल्की बनती है और न अपनी सफाई देकर आत्म-विश्वास की न्यूनता प्रकट करती है। उसका दर्पण जैसा मन स्वयं ही अपनी स्वच्छता का प्रमाण है। एक बार तो जब एक सज्जन मेरे घर में बैठ कर मुझे लछमा के कल्पित दोष गिना रहे थे तब वह दरवाजे के बाहर खड़ी होकर उन्हें छोटे बच्चों की तरह मुंह चिढ़ा रही थी।

गांव के बुरे-से-बुरे व्यक्ति की भी चर्चा चलते ही वह सरल भाव से कह देती है, "अपने आप रहेगा।" उसके स्वनिर्मित शब्द-कोष में इसका अर्थ है—रहने दो जैसा करेगा वैसा पावेगा।

मार्ग में आने-जाने वाले सभ्य जब चरने वाली भैंस और चराने वाली लछमा के साथ एक-सा उपेक्षाभरा व्यवहार करते हैं

तब भी वह रुष्ट नहीं होती उल्टे उनकी सफाई देने लगती है, "हम तो आदमी जैसे नहीं। वे बहुत अच्छे हैं फिर हमसे कैसे बोलें, हम भी नहीं बोलते। तुम बहुत अच्छा नहीं करते क्योंकि हमसे बोलते हो पर तुम हमसे अच्छा बोलते हो इसी से हम तुम को घेरते हैं।" ऐसे टूटे-फूटे वाक्यों में लछमा का जो तात्पर्य छिपा रहता है उसे पूर्णतः समझ लेना चाहे सहज न हो, परन्तु इतना तो समझ में आ ही जाता है कि उसके अपनी लघुता पर संकुचित हृदय में किसी के प्रति कोई दुर्भावना रखने का स्थान नहीं।

मेरे आने का दिन लछमा के लिए बहुत व्यथाभरा दिन रहता है। भैंस दुह कर वह मेरे यहाँ दौड़ आती है। पानी भर कर वह फिर एक चक्कर लगा देती है। बच्चों को रोटी देकर वह फिर एक फेरी दे जाती है। जैसे-जैसे मेरा सामान बंधता है वैसे-वैसे मानो लछमा के जोड़-जोड़ के बंधन शिथिल होते जाते हैं।

एक मील तक मुझे पहुँचाने आने का उसका नियम है। मील का दूसरा पत्थर आते ही जब मैं उसे लौट जाने का आदेश देती हूँ तब वह खोयी-सी खड़ी हुई, बार-बार आँसू पोंछ कर, दृष्टि से ही कुछ दूर तक मेरा अनुसरण करती है।

पहाड़ी राह तो हमारे यहाँ की लम्बी-चौड़ी सड़क नहीं है। चार पग चल कर ही कभी दाहिनी ओर मुड़ जाना पड़ता है, कभी बांई ओर, कभी कोई पेड़ दृष्टि रोक लेता है, कभी कोई शिला-खण्ड। मेरे दृष्टि से ओझल हो जाने पर भी लछमा का आंसुओं से गीला कण्ठ दूर तक सुनायी देता रहता है, 'संभाल के जाना, जल्दी लौटना, अच्छा अच्छा।'

इन दिनों लछमा के सामने भूखे मरने का प्रश्न नहीं रहता। सेव के बाग फलों से लदे हुए हैं। पेड़ों के नीचे गिरे कच्चे और खट्टे सेव वहीं सूख या सड़ जाते हैं इसी से कोई उन्हें लेने से नहीं

रोकता। आजकल किसी भी पेड़ के नीचे बैठ कर लछमा सेर तीन पाव खट्टे और न खाने योग्य सेव गले के नीचे उतार लेती है और फिर दो-दो दिन तक निराहार काम में लगी रहती है।

पर धीरे-धीरे वह जाड़ा आ रहा है जब धरती के हृदय पर दुःखभार के समान तीन-तीन फीट ऊंची बर्फ जम जायगी, जब लोग अपने-अपने घरों में आग तापते हुए पुरानी कथाओं को नये ढंग से कहेंगे, जब सम्पन्न और निर्धन सब अपने संचित अन्न के भरोसे प्रकृति की तरल पर क्रूर क्रीड़ा का उपहास करेंगे, जब कुछ पशु नीचे के गर्म गाँवों की ओर भेज दिये जायेंगे, और कुछ सुखायी हुई घास देकर गर्म कोठों में सुरक्षित रक्खे जायंगे। और तब विकलांग बूढ़ों, असमर्थ बालकों तथा अरक्षित पशुओं को लेकर लछमा क्या करेगी?

मुझे उसका कोई समाचार नहीं मिला यह सत्य भी है और नहीं भी। वह पढ़ी लिखी होती तो पत्र लिखने की सुविधा रहती, यह सुन कर लछमा एक विचित्र भाव भंगिमा के साथ अपनी अटपटी सी भाषा में उत्तर देती है, "हम तो अपनी जैसी चिट्ठी लिख लेते हैं। एक टीले बैठ कर सोचते हैं, यह लिखा, वह लिखा, यह ठीक लिखा, यह ठीक लिख गया, वह लिखना अच्छा नहीं हुआ। फिर जब मन में आता है कि चिट्ठी गयी तब उठ कर खुशी से घास काटते हैं, लकड़ी तोड़ते हैं। क्या हमारा लिखा नहीं पहुंचता ?"

कागज़, क़लम, स्याही और अक्षरों स शून्य तथा पोस्ट आफिस की सहायता के बिना भेजी गयी चिट्ठी की बात सुन कर किसे हँसी नहीं आवेगी?

पर जब सर्दियों में मैं अचानक ही यहाँ गर्म कमरे को छोड़कर उस हिम से मूर्छित पर्वत की ओर जाने को उद्यत हो जाती हूं,

गर्मियों में सभ्य समारोह से मुखरित पर्वतीय सौन्दर्य का निरादर कर, उस व्यथा से नीरव हिमानी के कोने में पहुँचने के लिए विकल हो उठती हूँ, तब मुझे निरक्षर लछमा की चिट्ठी नहीं मिलती, यह कौन कह सकता है ?

: १६ :

सर्वोदय

महात्मा गांधी

मनुष्य कितनी ही भूलें करता है, पर मनुष्यों की पारस्परिक भावना—स्नेह, सहानुभूति के प्रभाव का विचार किये बिना उन्हें एक प्रकार की मशीन मान कर उनके व्यवहार के गढ़ने से बढ़कर कोई दूसरी भूल नहीं दिखायी देती। ऐसी भूल हमारे लिए लज्जा-जनक कही जा सकती है। जैसे दूसरी भूलों में ऊपर-ऊपर से देखने से कुछ सचाई का आभास दिखायी देता है। वैसे ही लौकिक नियमों के विषय में भी दिखायी देता है। लौकिक नियम बनाने वाले कहते हैं कि पारस्परिक स्नेह और सहानुभूति तो एक आक-स्मिक वस्तु है, और इस प्रकार की भावना मनुष्य की साधारण प्रकृति की गति में बाधा पहुँचाने वाली मानी जानी चाहिए, परंतु लोभ और आगे बढ़ने की इच्छा सदा बनी रहने वाली वृत्तियाँ हैं। इसलिए आकस्मिक वस्तु से दूर रखकर मनुष्य को पैसा बटोरने की मशीन मानते हुए केवल इसी बात पर विचार करना चाहिए कि किस प्रकार के श्रम और किस तरह के लेन-देन के रोजगार से आदमी अधिक-से-अधिक धन एकत्र कर सकता है। इस तरह के विचारों के आधार पर व्यवहार की नीति निश्चित कर लेने के बाद फिर चाहे जितनी पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति से काम लेते हुए लोक-व्यवहार चलाया जाए।

यदि पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति का जोर लेनदेन के नियम जैसा ही होता तो ऊपर की दलील ठीक कही जा सकती थी। मनु-ष्य की भावना उसके अंदर का बल है और लेन-देन का कायदा एक

सांसारिक नियम है। अर्थात् दोनों एक प्रकार, एक वर्ग के नहीं हैं। यदि एक वस्तु किसी ओर जा रही हो और उस पर एक ओर से स्थायी शक्ति लग रही हो और दूसरी ओर से आकस्मिक शक्ति, तो हम पहले स्थायी शक्ति का अंदाजा लगायेंगे, बाद को आकस्मिक का। दोनों का अंदाजा मिल जाने पर हम उस वस्तु की गति का निश्चय कर सकेंगे। हम ऐसा इसलिए कर सकेंगे कि आकस्मिक और स्थायी दोनों शक्तियाँ एक प्रकार की हैं; परंतु मानव-व्यवहार में लेन-देन के स्थायी नियम की शक्ति और पारस्परिक भावना रूपी आत्मिक शक्ति दोनों भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। भावना का असर दूसरे ही प्रकार का दूसरी ही तरह से पड़ता है, जिससे मनुष्य का रूप ही बदल जाता है। इसलिए वस्तु विशेष की गति पर पड़ने वाली भिन्न-भिन्न शक्तियों के असर का हिसाब जिस तरह हम साधारण जोड़-बाकी के नियमों से लगाते हैं उस तरह भावना के प्रभाव का हिसाब नहीं लगा सकते। मनुष्य की भावना के प्रभाव की जाँच-पड़ताल करने में लेन-देन, खरीद-बिक्री या माँग और उत्पत्ति के नियम का ज्ञान कुछ काम नहीं आता।

लौकिक शास्त्र के नियम गलत हैं, यह कहने का कोई कारण नहीं। यदि व्यायाम-शिक्षक यह मान ले कि मनुष्य के शरीर में केवल मांस ही है, अस्थि-पंजर नहीं है और फिर नियम बनाए तो उसके नियम ठीक भले ही हों, पर वे अस्थि-पंजर वाले मनुष्य के लिए लागू नहीं हो सकते। उसी तरह लौकिक शास्त्र के नियम ठीक होने पर भी भावना से बँधे हुए मनुष्य के लिए लागू नहीं हो सकते। यदि कोई कसरतबाज कहे कि मनुष्य का मांस अलग कर उसकी गेंदें बनाई जा सकती हैं, उसे खींचकर उसकी डोरी बना सकते हैं और फिर यह भी कहे कि उस मांस में पुनः अस्थि-पंजर घुसा देने

में क्या कठिनाई है, तो हम निस्संदेह उसे पागल कहेंगे, क्योंकि अस्थि-पंजर से मांस को अलग कर व्यायाम के नियम नहीं बनाये जा सकते। इसी तरह यदि मनुष्य की भावना की उपेक्षा करके लौकिक शास्त्र के नियम बनाये जायँ तो वे उसके लिए बेकार हैं। फिर भी वर्तमान लौकिक व्यवहार के नियमों के रचयिता उक्त व्यायाम-शिक्षक के ही ढंग पर चलते हैं। उनके हिसाब से मनुष्य, उसका शरीर, केवल कल है और इसी धारणा के अनुसार वे नियम बनाते हैं। वे जानते हैं कि उसमें जीव है, फिर भी वे उसका विचार नहीं करते। इस प्रकार के नियम मनुष्य पर, जिसमें जीव—आत्मा—रूह की प्रधानता है, कैसे लागू हो सकते हैं?

अर्थशास्त्र कोई शास्त्र नहीं है। जब-जब हड़तालें होती हैं तब-तब हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि वे बेकार हैं। उस वक्त मालिक कुछ और सोचते हैं और नौकर कुछ और। उस समय हम लेन-देन का एक भी नियम लागू नहीं कर सकते। लोग यह दिखाने के लिए खूब माथा-पच्ची करते हैं कि नौकर और मालिक दोनों का स्वार्थ एक ही ओर होता है, परन्तु इस समय में वे कुछ नहीं समझते। सच तो यह है कि एक-दूसरे का सांसारिक स्वार्थ—पैसे का—एक न होने पर भी एक-दूसरे का विरोधी होना या बने रहना जरूरी नहीं है। एक घर में रोटी के लाले पड़े हैं। घर में माता और उसके बच्चे हैं। दोनों को भूख लगी है। खाने में दोनों के—माता और बच्चे के—स्वार्थ परस्पर विरोधी हैं। माता खाती है तो बच्चे भूखों मरते हैं और बच्चे खाते हैं तो माँ भूखी रह जाती है। फिर भी माता और बच्चों में कोई विरोध नहीं है। माता अधिक बलवती है तो इस कारण वह रोटी के टुकड़े को खुद नहीं खा डालती। ठीक यही बात मनुष्य के परस्पर के संबंध के विषय में भी समझनी चाहिए।

फिर भी थोड़ी देर के लिए मान लीजिए कि मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं है। हमें पशुओं की तरह अपने-अपने स्वार्थ के लिए लड़ना ही चाहिए। तब भी यह बात नियम रूप में नहीं कही जा सकती कि मालिक और नौकर के बीच सदा ही मतभेद रहना या न रहना चाहिए। अवस्था के अनुसार इस भाव में परिवर्तन हुआ करता है। जैसे अच्छा काम होने और पूरा दाम मिलने में तो दोनों का स्वार्थ है, परन्तु नफे के बटवारे की दृष्टि से देखने पर यह हो सकता है कि जहाँ एक का लाभ हो वहाँ दूसरे की हानि हो। नौकर को इतनी कम तनख्वाह देने में कि वह सुस्त और निरुत्साह रहे, मालिक का स्वार्थ नहीं सधता। इसी तरह कारखाना भली भाँति न चल सकता हो तो भी ऊँची तनखाह माँगना नौकर के स्वार्थ का साधक नहीं है। जब मालिक के पास अपनी मशीन की मरम्मत कराने को भी पैसे न हों तब नौकर का ऊँची तनखाह माँगना स्पष्टतः अनुचित होगा।

इस तरह हम देखते हैं कि लेन-देन के नियम के आधार पर किसी शास्त्र की रचना नहीं की जा सकती। ईश्वरीय नियम ही ऐसा है कि धन की घटती-बढ़ती के नियम पर मनुष्य का व्यवहार नहीं चलना चाहिए। उसका आधार न्याय का नियम है, इसलिए मनुष्य को समय देखकर नीति या अनीति, जिससे भी बने, अपना काम निकाल लेने का विचार एकदम त्याग देना चाहिए। अमुक प्रकार से आचरण करने पर अंत में क्या फल होगा, इसे कोई भी सदा नहीं बतला सकता, परन्तु अमुक काम न्यायसंगत है या न्यायविरुद्ध, यह तो हम प्रायः सदा जान सकते हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि नीति-पथ पर चलने का फल अच्छा ही होना चाहिए। हाँ, वह फल क्या होगा, किस तरह मिलेगा, यह हम नहीं कह सकते।

नीति-न्याय के नियम में पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति का समावेश हो जाता है और इसी भावना पर मालिक-नौकर का संबंध अवलंबित होता है। मान लीजिए, मालिक नौकरों से अधिक-से-अधिक काम लेना चाहता है। उन्हें जरा भी दम नहीं लेने देता, कम तनखाह देता है, दड़बे-जैसी कोठरियों में रखता है। सार यह कि वह उन्हें इतना ही देता है कि वे किसी तरह अपना प्राण शरीर में रख सकें। कुछ लोग कह सकते हैं कि ऐसा करके वह कोई अन्याय नहीं करता। नौकर ने निश्चित तनखाह में अपना सारा समय मालिक को दे दिया है और वह उससे काम लेता है। काम कितना कड़ा लेना चाहिए, इसकी हद वह दूसरे मालिकों को देखकर निश्चित करता है। नौकर को अधिक वेतन मिले तो दूसरी नौकरी कर लेने की उसे स्वतन्त्रता है। इसी को लेन-देन का नियम बनाने वाले अर्थशास्त्र कहते हैं और उनका कहना है कि इस तरह कम-से-कम दाम में अधिक-से-अधिक काम लेने में मालिक को लाभ होता है और अन्त में इससे नौकर को भी लाभ ही होता है।

विचार करने पर हम देखेंगे कि यह बात ठीक नहीं है। नौकर अगर मशीन या कल होता और उसे चलाने के लिए किसी विशेष प्रकार की ही शक्ति की आवश्यकता होती तो यह हिसाब ठीक बैठ सकता था, परंतु यहाँ तो नौकर को संचालित करने वाली शक्ति उसकी आत्मा है। और आत्मा का बल तो अर्थ-शास्त्रियों के सारे नियमों पर हड़ताल फेर देता है——उन्हें गलत बना देता है। मनुष्यरूपी मशीन में धनरूपी कोयला झोंककर अधिक-से-अधिक काम नहीं लिया जा सकता। वह अच्छा काम तभी दे सकती है जब उसकी सहानुभूति जगायी जाए। नौकर और मालिक के बीच धन का नहीं, प्रीति का बंधन होना चाहिए।

प्रायः देखा जाता है कि जब मालिक चतुर और सावधान होता है तब नौकर अधिकतर दबाव के कारण ज्यादा काम करता है। इसी तरह जब मालिक आलसी और कमजोर होता है तब नौकर का काम जितना होना चाहिए उतना नहीं होता। पर सच्चा नियम तो यह है कि दो समान चतुर मालिक और दो समान नौकर भी लिये जायँ तो हम देखेंगे कि सहानुभूति वाले मालिक का नौकर सहानुभूतिरहित मालिक के नौकर की अपेक्षा अधिक और अच्छा काम करता है।

कुछ लोग कह सकते हैं कि यह नियम ठीक नहीं, क्योंकि स्नेह और कृपा का बदला अनेक बार उलटा ही मिलता है और नौकर सिर पर चढ़ जाता है, पर यह दलील ठीक नहीं है। जो नौकर स्नेह के बदले लापरवाही दिखाता है, सख्ती की जाय तो वह मालिक से द्वेष करने लगेगा। उदार-हृदय मालिक के साथ जो नौकर बददयानती करता है वह अन्यायी मालिक का नुकसान कर डालेगा।

सार यह है कि हर समय हर आदमी के साथ परोपकार की दृष्टि रखने से परिणाम अच्छा ही होता है। यहाँ हम सहानुभूति को एक प्रकार की शक्ति मान कर ही उस पर विचार कर रहे हैं। स्नेह उत्तम वस्तु है, इसलिए उससे सदा काम लेना चाहिए—यह बिलकुल जुदी बात है और यहाँ हम उस पर विचार नहीं कर रहे हैं। यहाँ तो हमें केवल यही दिखाना है कि अर्थशास्त्र के साधारण नियमों को, जिन्हें हम अभी देख चुके हैं, स्नेही सहानुभूतिरूपी शक्ति बरबाद कर देती है। यही नहीं, यह एक भिन्न प्रकार की शक्ति होने के कारण अर्थशास्त्र के अन्यान्य नियमों के साथ उसका मेल नहीं बैठता। वह तो उन नियमों को उठाकर अलग रख देने पर ही टिक सकती है। यदि मालिक काँटे का तोल का हिसाब रक्खे

और बदला मिलने की आशा से ही स्नेह दिखाए तो संभव है कि उसे निराश होना पड़े। स्नेह स्नेह के लिए ही दिखाया जाना चाहिए, बदला तो बिना माँगे अपने आप ही मिल जाता है। कहते हैं जो खुद अपनी जान दे देता है वह तो उसे पा जाता है और जो उसे बचाता है वह उसे खो देता है।

सेना और सेनानायक का उदाहरण लीजिए। जो सेनानायक अर्थशास्त्र के नियमों का प्रयोग कर अपनी सेना के सिपाहियों से काम लेना चाहेगा वह निर्दिष्ट काम उनसे न ले सकेगा। इसके कितने ही दृष्टांत मिलते हैं कि जिस सेना का सरदार अपने सिपाहियों से घनिष्ठता रखता है, उनके प्रति स्नेह का व्यवहार करता है, उनकी भलाई से प्रसन्न होता है, उनके सुख-दुःख में शरीक होता है, उनकी रक्षा करता है—सारांश यह कि जो उनके साथ सहानुभूति रखता है, वह उनसे चाहे जैसा कठिन काम ले सकता है। ऐतिहासिक उदाहरणों में हम देखते हैं कि जहाँ सिपाही अपने सेनानायक से मुहब्बत नहीं रखते थे वहाँ युद्ध में कहीं-कहीं ही विजय मिली है। इस तरह सेनापति और सैनिकों के बीच स्नेह-सहानुभूति का बल ही वास्तविक बल है। यह बात लुटेरों के दलों में भी पायी जाती है। डाकुओं का दल भी अपने सरदार के प्रति पूर्ण स्नेह रखता है, लेकिन मिल आदि कारखानों के मालिकों और मजदूरों में हमें इस तरह की घनिष्ठता नहीं दिखलायी देती। इसका एक कारण तो यह है कि इस तरह के कारखाने में मजदूरों की तनखाह का आधार लेनदेन के, माँग और प्राप्ति के नियमों पर रहता है, इसलिए मालिक और मजदूरों के बीच प्रीति के बदले अप्रीति बनी रहती है और सहानुभूति की जगह उनके संबंध में विरोध, प्रतिद्वंद्विता-सी दिखायी देती है। ऐसी अवस्था में हमें दो प्रश्नों पर विचार करना है।

पहला प्रश्न यह है कि माँग का और प्राप्ति का विचार किए बिना नौकरों की तनखाह किस हद तक स्थिर की जा सकती है ?

दूसरा यह कि जिस तरह पुराने परिवारों में मालिक-नौकरों का या सेनापति और सिपाहियों का स्थायी संबंध होता है, उसी तरह कारखानों में बराबर कैसा ही समय आने पर भी नौकरी की नियत संख्या, कमी-बेशी किए बिना, किस तरह रक्खी जा सकती है ?

पहले प्रश्न पर विचार करें। आश्चर्य की बात है कि अर्थ-शास्त्री इसका उपाय नहीं निकालते कि कारखाने के मजदूरों की तनखाह की एक दर निश्चित हो जाए । फिर भी हम देखते हैं कि इंग्लैंड के प्रधान मंत्री का पद बोली बुलवाकर बेचा नहीं जाता। उस पद पर चाहे जैसा मनुष्य हो उसे वही तनखाह दी जाती है। इसी तरह जो आदमी कम-से-कम तनखाह ले उसे हम पादरी (बिशप) के पद पर नहीं बैठाते। डाक्टरों और वकीलों के साथ भी साधारणतः इस तरह का संबंध नहीं रक्खा जाता। इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्त उदाहरणों में हम बँधी उजरत ही देते हैं। इस पर कोई पूछ सकता है कि क्या अच्छे और बुरे मजदूर की उजरत एक ही होनी चाहिए ? वास्तव में होना तो यही चाहिए। इसका फल यह होगा कि जिस तरह हम सब चिकित्सकों और वकीलों की फीस एक ही होने से अच्छे वकील-डाक्टरों के ही पास जाते हैं, उसी तरह सब मजदूरों की मजदूरी एक ही होने पर हम लोग अच्छे राज और बढ़ई से ही काम लेना पसंद करेंगे। अच्छे कारीगर का इनाम यही है कि वह काम के लिए पसंद किया जाए। इसलिए स्वाभाविक और सच्चे वेतन की दर निश्चित हो जानी चाहिए। जहाँ अनाड़ी आदमी कम तनखाह लेकर मालिक को धोखा दे सकता है वहाँ अंत में बुरा ही परिणाम होता है।

अब दूसरे प्रश्न पर विचार करें। वह यह है कि व्यापार की चाहे जैसी अवस्था हो, कारखाने में जितने आदमियों को आरंभ में रक्खा हो उतनों को सदा रखना ही चाहिए। जब कर्मचारियों को अनिश्चित रूप से काम मिलता है तब उन्हें ऊँची तनखाह मांगनी ही पड़ती है, किंतु यदि उन्हें किसी तरह यह विश्वास हो जाए कि उनकी नौकरी आजीवन चलती रहेगी तो वे बहुत थोड़ी तनखाह में काम करेंगे। इस तरह यह स्पष्ट है कि जो मालिक अपने कर्मचारियों को स्थायी रूप से नौकर रखता है उसे अंत में लाभ ही होता है और जो आदमी स्थायी नौकरी करते हैं उन्हें भी लाभ होता है। पर जहाँ स्थायित्व नहीं ऐसे कारखानों में ज्यादा नफा नहीं हो सकता। वे कोई बड़ी जोखिम नहीं ले सकते, भारी प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकते। सिपाही सेनापति की खातिर मरने को तैयार होता है और सिपाहीगिरी साधारण मजदूरी के पेशे से ज्यादा इज्जत की चीज मानी गयी है। सच पूछिए तो सिपाही का काम कत्ल करने का नहीं, बल्कि दूसरों की रक्षा करते हुए खुद कत्ल हो जाने का है। जो सिपाही बनता है वह अपनी जान अपने राज्य को सौंप देता है। यही बात हम वकील, डाक्टर और पादरी के संबंध में भी मानते हैं, इसलिए उन्हें आदर की दृष्टि से देखते हैं। वकील को अपने प्राण निकलने तक भी न्याय ही करना चाहिए। वैद्य को अनेक संकट सहकर भी अपने रोगी का उपचार करना उचित है। और पादरी-धर्मोपदेशक को चाहिए कि उस पर कुछ भी क्यों न बीते, पर अपने समुदाय वालों को ज्ञान देता और सच्चा रास्ता बताता रहे।

यदि उपर्युक्त पेशों में ऐसा हो सकता है तो व्यापार में क्यों नहीं हो सकता? आखिर व्यापार के साथ अनीति का नित्य का संबंध मान लेने का कारण क्या है? विचार करने से दिखायी देता

है कि व्यापारी सदा के लिए स्वार्थी ही मान लिया गया है। व्यापारी का काम भी जनता के लिए जरूरी है, पर हमने मान लिया है कि उसका उद्देश्य केवल अपना घर भरना है। कानून भी इसी दृष्टि से बनाये जाते हैं कि व्यापारी झपाटे के साथ धन बटोर सके। चाल भी ऐसी ही पड़ गयी है कि ग्राहक कम-से-कम दाम दे और व्यापारी जहाँ तक हो सके अधिक माँगे और ले। लोगों ने खुद ही व्यापार में ऐसी आदत डाली और अब उसे उसकी बेईमानी के कारण नीची निगाह से देखते हैं। इस प्रथा को बदलने की जरूरत है। यह कोई नियम नहीं हो गया है कि व्यापारी को अपना स्वार्थ ही साधना—धन ही बटोरना चाहिए। इस तरह के व्यापार को हम व्यापार न कह कर चोरी कहेंगे। जिस तरह सिपाही राज्य के सुख के लिए जान देता है उसी तरह व्यापारी को जनता के सुख के लिए धन गवाँ देना चाहिए, प्राण भी दे देने चाहिएँ। सभी राज्यों में—

सिपाही का पेशा जनता की रक्षा करना है;
धर्मोपदेशक का, उसको शिक्षा देना है;
चिकित्सक का, उसे स्वस्थ रखना है;
वकील का उसमें न्याय का प्रचार करना है;

और व्यापारी का उसके लिए आवश्यक माल जुटाना है।

इन सब लोगों का कर्त्तव्य समय आने पर अपने प्राण भी दे देना है। अर्थात्—

पैर पीछे हटाने के बदले सिपाही को अपनी जगह पर खड़े-खड़े मृत्यु स्वीकार कर लेनी चाहिए।

प्लेग के समय भाग जाने के बदले चाहे खुद प्लेग का शिकार हो जाए तो भी चिकित्सक को वहाँ मौजूद रह कर रोगियों का इलाज करते रहना चाहिए।

सत्य की शिक्षा देने में लोग मार डालें तो भी मरते दम तक धर्मोपदेशक को झूठ के बदले सत्य ही की शिक्षा देते रहना चाहिए।

न्याय के लिए मरना पड़े तब भी वकील को इसका यत्न करना चाहिए कि न्याय ही हो।

इस प्रकार उपर्युक्त पेशे वालों के लिए मरने का उपयुक्त समय कौन-सा है, यह प्रश्न व्यापारियों तथा दूसरे सब लोगों के लिए भी विचारणीय है। जो मनुष्य समय पर मरने को तैयार नहीं है, वह जीना किसे कहते हैं यह नहीं जानता। हम देख चुके हैं कि व्यापारी का काम जनता के लिए जरूरी सामान जुटाना है। जिस तरह धर्मोपदेशक का काम तनखाह लेना नहीं, बल्कि उपदेश देना है, उसी तरह व्यापारी का नफा कमाना नहीं, बल्कि माल जुटाना है। धर्मोपदेश देने वाले को रोटी और व्यापारी को नफा तो मिल ही जाते हैं, पर दोनों में से एक का भी काम तनखाह या नफे पर नजर रखना नहीं है। उन्हें तनखाह या मुनाफा मिले या न मिले फिर भी अपना काम, अपना कर्त्तव्य करते रहना ही है। यदि यह विचार ठीक हो तो व्यापारी को ऊँचा दरजा मिलना चाहिए, क्योंकि उसका काम बढ़िया माल तैयार कराना और जिसमें जनता का लाभ हो उस प्रकार उसे जुटाना, पहुँचाना है। इस काम में जो सैकड़ों या हजारों आदमी उसके मातहत हों उनकी रक्षा और बीमार होने पर दवा-दारू करना भी उसका कर्त्तव्य है। यह करने के लिए धीरज, बहुत स्नेह-सहानुभूति और बहुत चतुराई चाहिए।

भिन्न-भिन्न काम करते हुए औरों की तरह व्यापारी के लिए भी जान दे देने का अवसर आए तो वह प्राण समर्पण कर दे। ऐसा व्यापारी चाहे उस पर कैसा ही संकट आ पड़े, चाहे वह

भिखारी हो जाए, पर न तो खराब माल बेचेगा और न लोगों को धोखा ही देगा। साथ ही अपने यहाँ काम करने वालों के साथ अत्यंत स्नेह का व्यवहार करेगा। बड़े कारखानों या कारबारों में जो नवयुवक नौकरी करते हैं उनमें से कितनों को अक्सर घर-बार छोड़ कर दूर जाना होता है। वहाँ तो मालिक को ही उनके माँ-बाप बनना होता है। मालिक इस विषय में लापरवाह होता है तो बेचारे नवयुवक बिना माँ-बापके हो जाते हैं। इसलिए पद-पदपर व्यापारी या मालिक को अपने आपसे यही प्रश्न करते रहना चाहिए कि "मैं जिस तरह अपने लड़कों को रखता हूँ वैसा ही बरताव नौकरों के साथ भी करता हूँ या नहीं?"

जहाज के कप्तान के नीचे जो खलासी होते हैं उनमें कभी उसका लड़का भी हो सकता है। सब खलासियों को लड़कों के समान मानना कप्तान का कर्त्तव्य है। उसी तरह व्यापारी के यहाँ अनेक नौकरों में यदि उसका लड़का भी हो तो काम-काज के बारे में वह जैसा व्यवहार अपने लड़के के साथ करता है वैसा ही दूसरे नौकरों के साथ भी उसे करना चाहिए। इसी को सच्चा अर्थशास्त्र कहना चाहिए। और जिस तरह जहाज के खतरे में पड़ जाने पर कप्तान का कर्त्तव्य होता है कि वह स्वयं सबके बाद जहाज से उतरे, उसी तरह अकाल इत्यादि संकटों में व्यापारी का कर्त्तव्य है कि अपने आदमियों की रक्षा अपने से पहले करे। इस प्रकार के विचार संभव हैं कुछ लोगों को विचित्र मालूम हों, परंतु ऐसा मालूम होना ही इस जमाने की विशेष नवीनता है, क्योंकि विचार करके यह सभी देख सकते हैं कि सच्ची नीति तो वही हो सकती है जो अभी बतलायी गयी है। जिस समाज को ऊपर उठना है उसमें दूसरे प्रकार की नीति कदापि नहीं चल सकती।

अंग्रेज जाति आज तक कायम है तो इसका कारण यह नहीं है कि उसने अर्थशास्त्र के नियमों का अनुसरण किया है, बल्कि यह है कि थोड़े से लोगों ने उन नियमों का भंग करके उपर्युक्त नैतिक नियमों का पालन किया है। इसी से यह नीति अब तक अपना अस्तित्व कायम रख सकी है। इन नीति-नियमों का भंग करने से कैसी हानियाँ होती हैं और किस तरह समाज को पीछे हटना पड़ता है, इसका विचार हम आगे चल कर करेंगे।

हम सचाई के मूल के संबंध में पहले ही कह चुके हैं। कोई अर्थशास्त्री उसका जवाब इस प्रकार दे सकता है—"यह ठीक है कि पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति से कुछ लाभ होता है, परंतु अर्थ-शास्त्री इस तरह के लाभ का हिसाब नहीं लगाते। वे जिस शास्त्र की विवेचना करते हैं वह केवल इसी बात का विचार करता है कि मालदार बनने का क्या उपाय है? यह शास्त्र गलत नहीं है, बल्कि अनुभव से इसके सिद्धान्त प्रभावकारी पाये गये हैं। जो इस शास्त्र के अनुसार चलते हैं वे निश्चय ही धनवान् होते हैं और जो नहीं चलते हैं वे कंगाल हो जाते हैं। यूरोप के सभी धनिकों ने इसी शास्त्र के अनुसार चलकर पैसा पैदा किया है। इसके विरुद्ध दलील उपस्थित करना व्यर्थ है। हरेक अनुभवी व्यक्ति जानता है कि पैसा किस तरह आता और किस तरह जाता है।"

पर यह उत्तर ठीक नहीं है। व्यापारी रुपये कमाते हैं, पर वे यह नहीं जान सकते कि उन्होंने सचमुच कमाया या नहीं और उससे राष्ट्र का कुछ भला हुआ है या नहीं। 'धनवान्' शब्द का अर्थ भी वे अक्सर नहीं समझते। वे इस बात को नहीं जान पाते कि जहाँ धनवान् होंगे वहाँ गरीब भी होंगे। कितनी ही बार वे भूल से यह मान लेते हैं कि किसी निर्दिष्ट नियम के अनुसार चलने से सभी आदमी धनी हो सकते हैं। सच पूछिए तो यह मामला कुएँ के रहँट-

जैसा है। एक के खाली होने पर दूसरा भरता है। आपके पास जो एक रुपया होता है उसका अधिकार उस पर चलता है जिसके पास उतना नहीं होता। अगर आपके सामने या पास वाले आदमी को आपके रुपये की गरज न हो तो आपका रुपया बेकार है। आपके रुपये की शक्ति इस बात पर अवलंबित है कि आपके पड़ोसी को रुपये की कितनी तंगी है। जहाँ गरीबी है वहीं अमीरी चल सकती है। इसका मतलब यह हुआ कि एक आदमी को धनवान् होना हो तो उसे अपने पड़ोसियों को गरीब बनाये रखना चाहिए।

सार्वजनिक अर्थशास्त्र का अर्थ है, ठीक समय पर ठीक स्थान में आवश्यक और सुखदायक वस्तुएँ उत्पन्न करना, उनकी रक्षा करना और उनका अदल-बदल करना। जो किसान ठीक समय पर फसल काटता है, जो राज ठीक-ठीक चुनाई करता है, जो बढ़ई लकड़ी का काम ठीक तौर से करता है, जो स्त्री अपना रसोई-घर ठीक रखती है, उन सबको सच्चा अर्थशास्त्री मानना चाहिए। ये लोग सारे राष्ट्र की संपत्ति बढ़ाने वाले हैं। जो शास्त्र इसका उलटा है वह सार्वजनिक नहीं कहा जा सकता। उसमें तो केवल एक मनुष्य धातु इकट्ठी करता है और दूसरों को उसकी तंगी में रखकर उसका उपभोग करता है। ऐसा करने वाले यह सोचकर कि उनके खेत और ढोर वगैरह के कितने रुपये मिलेंगे अपने को उतना ही पैसे वाला मानते हैं। वे यह नहीं सोचते कि उनके रुपयों का मूल्य उससे जितने खेत और पशु मिल सकें उतना ही है। साथ ही वे लोग धातु का, रुपयों का संग्रह करते हैं। वे यह भी हिसाब लगाते हैं कि उससे कितने मजदूर मिल सकेंगे। एक आदमी के पास सोना-चाँदी या अन्न आदि मौजूद है। ऐसे आदमी को नौकरों की जरूरत होगी; परन्तु यदि उसके पड़ोसियों से किसी को सोना-चाँदी या अन्न की जरूरत न हो तो उसे

नौकर मिलना कठिन होगा। अतः उस मालदार को खुद अपने लिए रोटी पकानी पड़ेगी, खुद अपने कपड़े सीने पड़ेंगे और खुद ही अपना खेत जोतना होगा। इस दशा में उसके लिए उसके सोने का मूल्य उसके खेत के पीले कंकड़ों से अधिक न होगा। उसका अन्न सड़ जायगा, क्योंकि वह अपने पड़ोसी से ज्यादा तो खा न सकेगा। फल यह होगा कि उसको भी दूसरों की तरह कड़ी मेहनत करके ही गुजर करनी पड़ेगी। ऐसी अवस्था में अधिक आदमी सोना-चाँदी एकत्र करना पसंद न करेंगे। गहराई से सोचने पर हमें मालूम होगा कि धन प्राप्त करने का अर्थ दूसरे आदमियों पर अधिकार प्राप्त करना—अपने आराम के लिए नौकर, व्यापार या कारीगर की मेहनत पर अधिकार प्राप्त करना है। और यह अधिकार पड़ोसियों की गरीबी जितनी कम-ज्यादा होगी उसी हिसाब से मिल सकेगा। यदि एक बढ़ई से काम लेने की इच्छा रखने वाला एक ही आदमी हो तो उसे जो मजदूरी मिलेगी वही वह ले लेगा। यदि ऐसे दो-चार आदमी हों तो उसे जहाँ अधिक मजदूरी मिलेगी वहाँ जायगा। निचोड़ यह निकला कि धनवान् होने का अर्थ जितने अधिक आदमियों को हो सके उतनों को अपने से ज्यादा गरीबी में रखना है। अर्थशास्त्री अनेक बार यह मान लेते हैं कि इस तरह लोगों को तंगी में रखने से राष्ट्र का लाभ होता है। सब बराबर हो जायँ, यह तो हो नहीं सकता; परंतु अनुचित रूप से लोगों में गरीबी पैदा करने से जनता दुःखी हो जाती है, उसका अपकार होता है। कंगाली और मालदारी स्वाभाविक रूप से हो तो राष्ट्र सुखी होता है।